CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

7·3

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १८, अंक ४

सितंबर १९९७, भारतीय सौर भाद्रपद १९१९

संस्थापक संपादक : सुरेंद्र बारलिंगे

प्रधान संपादक : सुभाषचंद्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

- पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका) (भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

संस्थापक संपादक : सुरेंद्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचंद्र भेलके

संपादक मण्डल :
बलीराम शुक्ल
राजेन्द्र प्रसाद,
चंद्रकांत बांदिवडेकर
रामजी तिवारी

सलहकार संपादक मंडल :
विजयकुमार भारद्वाज
भुवन चण्डेल
आर. बालसुब्रमणिअन
छाया राय
अशोक वोहरा
अशोक केळकर

- प्रकाशनार्थ लेखसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

सदस्यता शुल्क :

•आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. १५००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६००/-
•वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. ८०/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६०/-
•एक प्रतिका मूल्य		रु. २०/-

- सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.१० अधिक जोड दें)
- आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है।
- अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हो तो, पुनः भेजा जाएगा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

भूतल पर विकसित समूचे प्राणिजगत् में मनुष्य का स्थान अलग ही है। मनुष्य को शारीरिक सामर्थ्य है लेकिन वह काफी मर्यादित है। लेकिन उस में कौशल अत्यधिक मात्रा में होने के कारण अपनी शारीरिक सामर्थ्य को वह विशेष रूप दे पाता है। शरीर के बाद आता है उस का मन। इस मन के कारण वह विशाल प्राणिसृष्टि में अपना वैशिष्ट्य बनाए रखा है। इस मन की विविध क्षमताएँ उस के जीवन के विभिन्न पहलुओं को बुनती रहती हैं। इसी मन की क्षमताओं के कारण उस के जीवन में व्यापकता और ठोसपन आते हैं। मन के आगे ले चलने के लिए वह अपनी बुद्धि का सहारा लेता है। एक पैने हथियार जैसी यह बुद्धि भ्रमों का, विरोधों का भेद करा के उसे बहुत ऊँची उडान लगाने में यशस्वी कर देती है। बुद्धि के आधार पर भी उस के जीवन की बुनावट होती है जिस में विज्ञान और दर्शन जैसी विशेष उपलब्धियाँ अपना साम्राज्य फैला देती हैं। इन उपलब्धियों के सहारे उस के जीवन का भी एक रूप बनता है और उसे विशेष अर्थ भी प्राप्त होता है। बुद्धि के दिखाये मार्ग पर चलनेवाला जीवन मनुष्यता की विशेषता का अंतिम चरण माना जाता है।

लेकिन जीवन को पूर्णता मिलती है शरीर, मन तथा बुद्धि इन तीनों के सन्तुलित सहयोग से बनी क्रियाकलापों की बुनावट से ही। बुद्धि से प्राप्त ऊँची उडान मनुष्य को अवश्य एक ऊँचे स्तर पर ले जाती है। लेकिन इस से उसे पूर्ण समाधान प्राप्त नहीं होता है। जबतक उस के जीवन को शारीरिक क्रियाकलापों का ठोस आधार प्राप्त नहीं होता तबतक उस की बुद्धि की उडान को भी कोई अर्थ नहीं प्राप्त होता। लेकिन अर्थ प्राप्त होने से भी काम नहीं चलता है। उसे जरुरत है जीवन को गरिमापूर्ण बनाने की। मानवीयता के स्पर्श से पुनीत क्रियाकलाप ही मनुष्य का जीवन गरिमामय बनाने में समर्थ है। इस मानवीयता की भावना का अजस्र स्रोत है मनुष्य का मन। नाते-रिश्तों से ठोस बना मनुष्य का जीवन उन नाते-रिश्तों को संभव बनाने के लिए आधार पाता है मन से उपजी भावभावनाओं का। इन भाव-भावनाओं में सब से श्रेष्ठ भाव है प्रेम का। इस प्रेम के प्रभाव से बना जीवन मनुष्य को पुष्टि, तुष्टि और पूर्णता का अहसास दिलाता है। बुद्धि-प्रणीत जीवन में पूर्णता का केवल आभास हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकता है वह पूर्ण नहीं बन सकता। उसे पूर्णता प्राप्त करने के लिए मन के गरिमापूर्ण आयाम में विकसित होना जरुरी है।

वास्तव में दर्शन ने शरीर-मन-बुद्धि के समन्वित सन्तुलन को स्वीकारा जरुर है। लेकिन बुद्धि के तीक्ष्ण व्यापारों से प्राप्त विज्ञान के लाभ मनुष्य की दृष्टि को धूमिल करा देते हैं। यही वजह है दार्शनिक दृष्टि में असन्तुलन पैदा होने की। बुद्धि मदकारी भी होती है। लेकिन प्रेम जैसे उत्कट भाव मनुष्य को मद से सदा के लिए अस्पृष्ट रखते हैं। इसी प्रेम के कारण मनुष्य अपने को समाज के रूप में विकसित करा के समाज के विकास में अपनी सेवा अर्पित करता है। जहाँ जहाँ सेवाभाव और अर्पणवृत्ति है वहाँ दार्शनिक दृष्टि का असली एवं उचित फल प्राप्त है। लेकिन दार्शनिक दृष्टि को बुद्धि के मद से बचाने की कोशिश करना आज के युग की एक दार्शनिक चुनौती उभर आयी है। क्या हम इस चुनौती से मुकाबला करने के लिए कटिबद्ध हो सकते हैं ? इस सवाल का जबाब वक्त तो अवश्य देगा ही। लेकिन उस वक्त के पहले भी उस जबाब को देने का अवसर आज हमें प्राप्त है। इस अवसर में हमें चुनाव भी करना है - चुनाव अपनी ही प्रवृत्तियों के बीच।

- सुभाषचंद्र मेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य में आधुनिकता की संकल्पना और भारतीय संदर्भ

इधर आधुनिकता पर विचार करना कुछ सामयिक फैशन के अनुकूल नहीं है, क्योंकि आधुनिकता के बाद उत्तर आधुनिकता पर समझे न समझे चर्चा करना साहित्यिक फैशन-सा बनने लगा है। हिन्दी में पचास-पचपन के आसपास नयी कविता, नयी कहानी के संदर्भ में आधुनिकता की काफी चर्चा हुई थी और योरोपीय साहित्यिक संदर्भों की छाया में विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें और आलेख भी लिखे गये। कहीं आधुनिकता, आधुनिकतावाद इत्यादि शब्दों में चर्चा उलझ भी गयी। वैसे वैचारिक स्पष्टता अधिकतर अनपचे पश्चिमी साहित्यिक संदर्भों और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों में धूमिल भी हुई। आधुनिकता विशिष्ट परिवेश में उत्पन्न मानसिकता का स्वरूप है या साहित्यिक मूल्य भी, इसको लेकर भी कुछ उलझन पैदा हुई। आधुनिकता के स्पर्श से थोड़ा बहुत प्रभावित साहित्य चर्चित भी हुआ। यह भुला दिया गया कि आधुनिकता का उद्‌भव एवं विकास पश्चिमी साहित्य की शक्तिशाली परंपरा, सांस्कृतिक स्थिति-गति तथा सामाजिक परिवेश (जिसमें वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास और अर्थव्यवस्था, उससे प्रभावित परिवार, व्यवस्था, मनुष्य के मन की विद्रोही स्वतंत्रता का उभार, बदले हुए मनुष्य/परिवार के रिश्ते, समाज की कुछ साक्षरता की समृद्धि इत्यादि कतिपय बातें शामिल थीं।) और समाज में उत्पन्न विविध शक्ति केन्द्रों के परिणामस्वरूप प्रतिभाशाली मनुष्यों में उत्पन्न मानसिक ऊर्जा का परिणाम था। परिणामतः भारतीय साहित्य का आधुनिकता के संदर्भ में गहराई से विश्लेषण कम हुआ। यह तुलनात्मक दृष्टि से कम देखा गया कि भारतीय संदर्भ में आधुनिकता को हम कितना स्वीकार कर पाये, कितना पचा पाये, उसके परिणामस्वरूप हमने कितना शक्तिशाली साहित्य रचा। हमारे सामने कोई अन्य विकल्प है अथवा नहीं।

यह अलग से रेखांकित करने की जरूरत नहीं है कि साहित्यिक सशक्त प्रवृत्ति किसी भी भाषा की देशीयता की ताकत पर पुष्ट होती है। इस देशीयता में संस्कृति, साहित्यिक परंपरा, सामाजिक अवस्था, पारिवारिक माहौल का स्वरूप, व्यक्ति को प्राप्त सुविधाएँ, वैचारिक पृष्ठभूमि और विशिष्ट देशीय मानसिकता की शक्तिशाली भित्ति शामिल है।

परामर्श (हिंदी) खण्ड १८, अंक ४, सितंबर १९९७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लगता है भारतीय साहित्य को आधुनिकता की एक मात्र कसौटी पर कसें, तो हाथ में गर्व करने लायक बहुत कम आता है। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी एक मात्र आधुनिकता नहीं है। फिर भी जिस कसौटी का हम आधा-अधूरा ही सही उपयोग करते आये हैं, उसका हमारे साहित्यिक संदर्भ में कितना उपयोग है ? अगर नहीं है तो क्यों नहीं है ? इस पर विचार करना बहुत जरूरी होगा। क्योंकि लगता है हमारे आधुनिक साहित्य को उथले धरातल पर स्पर्श कर आधुनिकता की लहर लौट गयी। वह एक सशक्त आंदोलन और उससे उत्पन्न प्रभावशाली प्रवृत्ति का रूप नहीं ले पायी।

आधुनिकता पश्चिमी साहित्य में एक विस्फोटक लहर के रूप में अवतरित हुई, यद्यपि उसके आकस्मिक स्फोट के लिए वर्षों से सांस्कृतिक सामाजिक परिवेश स्थिति पैदा कर रहा था। भारत में आधुनिकता पश्चिमी विचार और साहित्य के परिचय से आयी और कुछ समांतर स्थितियों ने उसकी सुगबुगाहट के लिए भूमि तैयार की। आकस्मिक विस्फोट में ऊर्जा होती है, अनुकरण में क्षीण जीवनोन्मेष। यह द्रष्टव्य है कि आधुनिकता का आरंभिक सशक्त विस्फोट गॉगिन, बैन गाफ, पिकॉसो जैसे महान चित्रकारों की कलाकृतियों में दिखा और बाद में साहित्य में। अनेक कलाओं में इंप्रेशनिज्म, एक्सप्रेसनिज्म, फ्यूचरिज्म, प्रतीकवाद, बिंबवाद, कोर्टीसिज्म, दादाइज्म, सररियालिज्म, क्यूविज्म, इत्यादि नये ऐंद्रिय प्रत्यय देनेवाले या अत्यंत अभिनव ढंग से संरचना करनेवाले कलारूप पैदा होने लगे। क्लासिकल परंपरा के स्थिर रूपों के प्रति विद्रोह प्रकट करने में कलाकारो में दुर्दम्य उत्साह उत्पन्न हुआ। व्यक्ति के अनुसार पृथक् शैलियों का प्रचुर वैभिन्य प्रकट होने लगा। इस वैभिंन्य की गति इतनी तेज हुई कि संरचनागत या रूपगत किसी प्रकार की स्थिरता ही गायब हो गयी और स्थिरता, दीर्घकालिक उपस्थिति हेय मानी जाने लगी। परंपरा के प्रति, विरोध इतिहास के प्रति विरोध, बाह्य यथार्थ के परिनिश्चित आकारों के प्रति विरोध, वस्तुगत या शैल्पिक सोचों के प्रति विरोध करते हुए कलाकार केवल अपनी चेतना और चिति के प्रति सजग, ईमानदार और प्रतिबद्ध रहने की कोशिश करने लगा। मनुष्य के मन की आन्तरिक गुह्य चेतना को इतना महत्त्व आया कि उसके अबाध वर्चस्व के आगे जीवन-दृष्टि, मूल्य-विवेक, अवकाश और काल के बंधन, स्थिरता पर अधिष्ठित किसी भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार की पहचान, भाषा का परंपरागत स्थिर रूप, वस्तु की प्रत्यक्षता, सब कुछ दोयम सिद्ध होने लगा। यहाँ तक कि अपनी आंतरिकता के सामने मानवीय गरिमा और मानव के प्रति 'कंसर्न' भी क्षीण होने लगा। नाटक हो, उपन्यास हो या काव्य किसी बाह्य वस्तु का प्रतिबिंब, आंशिक दर्शन, प्रतिनिधित्व करने वाला रूप न होकर कलाकार की अजस्र आंतरिक हलचल का पर्याय बना - शब्द, रंग, स्वर ये माध्यम केवल विवशता बाध्यता के कारण इस्तेमाल किए गये। अगर संभव होता तो किसी वस्तु का नामनिर्देश न करते हुए ही शून्य में अपनी आंतरिकता का नाट्य दर्शन ये कलाकार करते। कलाकार अपनी इस अन्तर्मुखी यात्रा में इतना आत्मकेन्द्रित हुआ कि सारे नाते-रिश्ते और मानवीय संबंध उसके लिए अपने 'स्व' से उद्भूत अर्थात् पूर्णतः बदले हुए लगने लगे। उसके लिए अपनी केन्द्रच्युत, असंतुलित, उखड़ी और आत्मस्थ चेतना महान् प्रश्न अवश्य बनी परंतु उसका बाह्य के संदर्भ में (परिवार, समाज, व्यवस्था, संस्कृति इत्यादि) संतुलन स्थापित करने की जरूरत उसने महसूस नहीं की। वह अपने ही अन्तर्मन में संगति और संतुलन की खोज करने लगा। अपनी वैयक्तिक कल्पनाशक्ति, प्रतिभा, ऊर्जा, चेतना उसकी दुनिया में सब कुछ बना। इस प्रयास में जो नयी तकनीकें आयीं, आन्तरिक तनाव, द्वन्द्व और वेदना पैदा हुई उसका रचयिता भी वही था और सहभोक्ता भी वही था, उसे संप्रेषण की जरूरत नहीं थी, सहृदय की आवश्यकता भी नहीं थी - वह स्वयं ही उसका भोक्ता था। एक प्रकार से अपनी ही बेचैनी में, अपनी ही दुखती नसों को कुतर कर खाने का यह प्रयास था।

कलाओं में अमूर्तन आया, शब्द और उसके परंपरागत अर्थ और भाषिक व्यवस्था के प्रति असंतोष पैदा हुआ, नये ढंग से संरचना का प्रबल आग्रह बढ़ा। इस प्रक्रिया में प्रयोग का जो आग्रह बढ़ा वह आन्तरिक जरूरत थी - दिखावा नहीं, चौकाने के लिए किया गया प्रयास नहीं। क्योंकि पाठक की या दर्शक की कोई अहमियत नहीं थी। कलाकार की आन्तरिक चेतना अकेली पड़ गयी थी और इस अकेलेपन में ही उसे सह्यता मिलने लगी थी। आत्म के अकेले पड़ने की प्रक्रिया में निर्वासन, निर्वासन में वेदना, वेदना में अंधकार, अंधकार में विलक्षण बेचैनी, बेचैनी में आत्महंता प्रवृत्तियों का प्रबल आकर्षण और आत्मविनाश के साथ सर्वविनाश की अमानवीयता का उत्तेजक विस्फोट था। इसमें बौद्धिकता, तर्क, प्रणाली, विवेक, सांस्कृतिक मानक, धर्म का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संवेदन सब कुछ बेमानी हो गया था ।एक तरह से कला एक चेतना की अस्वस्थ, दिशाहीन, स्फोटक ऊर्जा के लिए जरूरी साधन बन गया था । इस पूरी प्रक्रिया में जो महान रचनाएं पैदा हुईं (मसलन चित्रकारों के शक्तिशाली चित्र, युलिसिस जैसा उपन्यास, वर्जीनिया वुल्फ, टी. एस. इलियट, थामस मन, जोसेफ, कोनरेड) उनके मूल में प्रचण्ड ऊर्जा है । इस ऊर्जा का आधार वैयक्तिक चेतना का अजस्र प्रवाह था ।

विद्रोह (इतिहास परंपरा, यथा-तथ्यता, व्यवस्था, सबके प्रति) कालविद्धता, समसामयिकता, अन्तर्मुखता, अमूर्तता, आकस्मिकता, अनपेक्षितता और नवीनता से पाठक को झकझोरने की वृत्ति, सृजन के आभामंडित साहित्य से पृथक् अपने अस्तित्व में ही रस लेने की क्रीड़ा वृत्ति, कला के यथार्थवादी रूपों के प्रति घोर उपेक्षा भाव, साधारणीकरण की अवमानना, प्रतिष्ठित मानकों, स्थितियों, अवस्थाओं के विरोध में आत्मतत्त्व की खोज, जीवन से प्रभावित होने की अपेक्षा कला में ही जीवन निर्मित करने की महत्त्वाकांक्षा, मानवीय रिश्तों और मनुष्य के मानस के प्रति बदला हुआ रवैया, परिचित के प्रति अरुचि और अपरिचित का मोह, जीवन के निरावेग, प्रशांत और स्वस्थ रूपों की अपेक्षा तनाव, द्वन्द्व और क्राइसिस की खोज में अतिरिक्त उत्साह, जीवन के गहरे, अचीन्ह विद्रूप अपरूपों के प्रति उत्सुकता, अपनी कल्पना में ही यथार्थ को खोजने का प्रयास, अपनी घोर वैयक्तिकता को ही वस्तुनिष्ठता का रूप देने का आग्रह, भावना का बौद्धिकीकरण, मन के अतल में अवस्थित नर्क को खोजकर उसे प्रतिष्ठित करने का प्रयास, काल-तत्त्व के साथ खिलवाड, अपने मनोनिर्मित अवकाश को प्रतिभासित करने की आकांक्षा, कारण-कार्य संबंध के प्रति संदेह, तर्कातीत और रहस्यमय के प्रति आकर्षण - ये कुछ वैशिष्ट्य थे जो आधुनिकता से आविष्ट साहित्य में परिलक्षित हो रहे थे । इसका परिणाम भाषा के स्वीकृत व्याकरण सम्मत रूपों के विद्रोह में, भाषिक संरचना के नियमों की अस्वीकृति में, शब्दों के परिनिष्ठित रूपों और अर्थों के प्रति असंतोष में हुआ और भाषा रचनाकार के लिए एक अवरोधक के रूप में खड़ी रही और उसकी बँधी बँधायी रूढ़ियों पर लेखक टक्करें मारने लगा । उसने शब्दों और ध्वनियों के साथ क्रीडा खिलवाड़, तोड़-फोड़ करना शुरू किया । नये शब्द संयोजनों की खोज की । कवियों के लिए इनमें अपनी प्रयोगधर्मिता और कल्पनाशीलता को आजमाने की शक्तिशाली चुनौतियां

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मिली। भाषा को अपनी वैयक्तिक संपदा के रूप में प्रस्तुत करने की आकांक्षा में उसे अपूर्व मुक्ति मिली। सृजन का सुख मिला, विद्रोह की सार्थकता दिखी। केवल नये बिम्बों और भाषा के प्रतीकात्मक उपयोजन से ही उसे संतुष्टि नहीं मिली, सभी प्रकार के पाठक के साथ समझोतों को तोड़ने में उसे सृजन का सुख मिलने लगा। अपनी एक सर्वथा नयी भाषा लाने की महत्त्वाकांक्षी उत्तेजना ने कवि को उकसाया। असल में भाषा को यथास्थिति के प्रति विद्रोह और उसको तोड़फोड़ कर नये रूपों में निर्मित करने की आकांक्षा के मूल में आधुनिक लेखक की केवल सृजेनच्छा की तीव्रता नहीं थी। कहीं गहरे धरातल पर अति वैयक्तिक, आत्मकेन्द्रित, अहंवादी व्यक्ति की सृष्टि के प्रति विध्वंसक रूझान थी, यह एक विकृत मानसिकता थी जो विकृत को, नरक को, जुगुप्सामय और यातनामय को स्वीकार कर उसमें रममाण होने की मरणेच्छा का विविध रूपी प्रकटीकरण था। अधिकांश पाठकों और विद्वानों ने इसको युगीन संवेदना के रूप में स्वीकार किया। कथात्मक रूपों का क्रम, घटनाओं पर बल, चरित्रों और घटनाओं की पारस्परिकता का कथा प्रवाह में उपयोजन यह सब भाषा, काल और मानसिकता के प्रति बदले हुए रवैये के परिणामस्वरूप उखड़ गया। प्रारंभ, मध्य, अंत की बद्धमूल संकल्पनाएं ध्वस्त हो गयीं। स्थिरता, व्यवस्था, विकास, क्रम, प्रवाह जैसा अवधारणाओं में सन्निहित धीमी गति के स्थान पर भंवर उद्वेलन, क्राइसिस आदि को स्थान मिला। वैसे कुल बुद्धिजीवी मानसिकता से ही स्थिर जीवन और उज्ज्वल भविष्य की समूची आस्थाएं तो खत्म हुई थीं - भयावह वर्तमानता और उसमें उपलब्ध क्षण ही अपना सत्य रहा। कभी वर्तमान क्षण का पीछे अतीत में जाकर स्मृतियों का वितान निर्मित करने में लेखकों को सुख मिलने लगा। कभी अतीत के मिथकों को वर्तमान के साथ जोड़कर मिथक को वर्तमान की प्रत्यक्षता का रूप देकर सृजन क्रीड़ा संपन्न हुई।

वैसे आधुनिकता का रूप सभी योरोपीय देशों में भी समान नहीं है। इस शब्द की व्याप्ति में परस्पर विरोधी अवधारणाएं भी शामिल थीं। 'यूलिसिस' जैसी रचना के साथ जोला और टॉलस्टाय के 'वॉर एण्ड पीस' को या इब्सन के नाटकों को भी आधुनिक मानने का आग्रह है। अमेरिका की आधुनिकता विषयक अवधारणाओं और जर्मनी की अवधारणाओं में भी काफी अंतर है। आधुनिकता के वैयक्तिक सौंदर्यशास्त्र और पतनशील प्रवृत्तियों के प्रति नाराज़गी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी आधुनिक कहे जाने वाले लेखकों ने व्यक्त की है। आधुनिकता को रूसी मार्क्सवादियों ने अपने रंग में मिलाकर देखा। कुल मिलाकर आधुनिकता एक व्यामिश्र अवधारणा रही है, जिसमें अनेक विरोधी दृष्टियों, परिप्रेक्ष्यों, प्रवृत्तियों, कला रूपों और शैलियों का समावेशन है। उसमें रोमँटिसिज्म का घोर विरोध भी है और रोमँटिसिज्म के अतिवादी रूप अतिरेकपूर्ण अबौद्धिकता का समावेश भी। रोमँटिसिज्म और क्लासिसिज्म, घोर अनास्था और गहरी आस्था, विद्रोह और परंपरानिष्ठता, विज्ञान और टेक्नालॉजी का समर्थन और अस्वीकार, इत्यादि का समवेत समावेश आधुनिकता में हुआ है। जब कलाकार की आत्मचेतना का जैसा वैयक्तिक तथ्य ही आधुनिकता का प्रमुख आधार हो तब यह परस्पर विरोधी बातों का सम्मेलन स्वाभाविक ही था।

आधुनिकता ने कथा की संघटना और संरचना को तोड़-फोड़ दिया। किसी भी क्रमिक आख्यान और इतिवृत्तात्मक लेखन से आधुनिक मानस की चिति का संवाद नहीं हो सकता। मनुष्य के मन की गहराई, व्यामिश्रता और उसके प्रकट मन पर पड़ने वाले अन्तर्मन के दबाव का रूप, उसके स्वभाव की अस्थिरता, चरित्र की अनियमितता, संकल्प की दलमूल यकीनी, विकल्प की अबौद्धिकता, इत्यादि सैंकड़ो तथ्य नये मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित हुए। आधुनिक लेखक के सामने मनुष्य का यह अवचेतन द्वारा अनुशासित मन, एक स्वतंत्र, स्वायत्त विश्व बनकर सामने आया। अन्तर्मुखी लेखक अपनी ही चेतना को कुछ तटस्थ होकर निहारने लगा और उसकी अप्रतिमता, अनोखापन, अद्वितीयता उसके सामने चुनौती के रूप में खड़ी रही। उसने पाठक से सवांद की कल्पना छोड़ दी। संप्रेषण की अपेक्षा आत्म-प्रकाशन की आंतरिक ज़रूरत से वह अकेले ही अकेले अपने अनुभव संसार का निर्माता और भोक्ता बनने के लिए बाध्य हुआ। परिणाम में वह औरों से अधिक कटता गया और अकेला पड़ता गया। इसी में अपने अकेलेपन के संसार के प्रति उसमें अस्मिता जागी, अहंकार जागा और दूसरों से दूर होता गया। इस अस्मिता में उसने अपने अनुभव संसार को नये बिम्ब दिये जो कल्पनाप्रसूत थे, नये प्रतीक दिये जो उसके अपने थे, वैयक्तिक थे, भाषा के संयोजन में नये तरीके अपनाये, चेतना प्रवाह या पूर्वदीप्ति प्रणाली की अहमियत समझी, शब्द भी तोड़मोड़ कर नये बनाए - शब्दों के बीच की अर्थपूर्ण मूकता को अधिक सजगता के साथ उपयोजित किया, शब्द की ध्वनियों से काम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिया। अब भाषा अभिव्यक्ति का साधन या माध्यम नहीं भाषा ही दर्शनीय वस्तु बनी। वस्तु की अपेक्षा वस्तु का चिंतन एवं चिन्तन प्रक्रिया को यथावत् प्रस्तुत करने की आकांक्षा बलवती हुई, जीवन के प्रारूपों पर रूप चेतना हावी होने लगी। अपनी ही चिति का संसार उसे इतना सम्मोहित करने लगा कि चरित्र, घटनाएं, प्रसंग, अनुभव इसके मन से ही पैदा होने लगे। तभी मार्शल प्रूस्त जैसा लेखक अपनी स्मृतियों को लेकर अनेक खंडों में उपन्यास लिखने का सफल प्रयास कर सका। यूलिसिस जैसे महान् उपन्यास में, लेखक का अपना अन्तर्मन ही रंगमंच बना। तभी तो अपनी रचना प्रक्रिया को ही औपन्यासिक रूप दिया जाने लगा। उपन्यास के बारे में उपन्यास लिखा गया। यह बात दूसरी है कि महान् लेखक की आन्तरिकता में से, जो बाहर का यथार्थ झलका वह महत्त्वपूर्ण बना कभी रोज़मर्रा की जिन्दगी को मनोवैज्ञानिक परिभाषा में देखने की प्रवृत्ति बढ़ी। सौंदर्यवादी आत्मचेतना के अनुकूल और बाह्य यथार्थ एवं इतिहास के प्रति अवहेलना के भाव ने शैली, तकनीक, रूपायन इत्यादि में मानवीय तत्त्व के तिरोहित होने की स्थिति पैदा कर दी। अमूर्तन की प्रवृत्ति बढ़ी।

समाज से कटे, अकेलेपन का दर्दनाक अनुभव करनेवाले कलाकार, अपनी कल्पना में जो दुनिया देख रहे थे, उसमें विनाश की लहरों का मृत्यु-संगीत उन्हें सम्मोहित-सा करता था। दुःस्वप्न, दिक्-भ्रम, धुरी-च्युत उखड़ेपन की पीड़ा,व्यर्थता-बोध, असंगति वेदना इत्यादि का गाढ़ा काला रंग अधिक गाढ़ा बनता गया। अनुभव संसार के प्रति समरसता का रिश्ता लगभग समाप्त होकर व्यंग्य (सटायर और आयरनी) का रिश्ता लगभग कायम हो गया। भावुकता का विलोपन हुआ। क्योंकि वस्तु के साथ साहित्यकार का रिश्ता सदा के लिए तिरछा (Oblique) बना। सामान्यतः 1870 से 1930 के बीच साहित्य एवं चित्रकला में आधुनिकता का स्वर बढ़ता गया। उसके विविध रूप योरोपीय देशों में प्रकट होने लगे। और जैसा कि हर प्रवृत्ति के बारे में होता है, लोकरुचि के दबाव में आधुनिकता की ऊँचाई पर चढ़नेवाला उत्थान भी धीरे धीरे खत्म होने लगा। मार्क्सवादी विचारधारा या लोकतंत्र की अवधारणाओं ने एकान्तिकता की ओर गतिमान धारा को रोक दिया। यद्यपि आधुनिकता के इतने रूप, चेहरे, पहचानें, प्रेरणाएं हैं कि परस्पर विरोधी दावे भी किये जाते रहे। लेकिन इस प्रचंड प्रवृत्ति ने साहित्य एवं कला के सामने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभूतपूर्व प्रश्न उत्पन्न किये, उत्तर भी ढूँढ़ने का प्रयास किया, कुछ स्थायी प्रभाव भी कुल कलानुभव पर अंकित हुआ। जीवन, मनुष्य का स्वभाव, इतिहास, विज्ञान, तकनीकी विकास, कला रूपों का स्वरूप, साहित्य का प्रयोजन, कलाकार का व्यक्तित्व, कला की सार्थकता के आयाम; काल तत्त्व का इकहरा रूप इत्यादि की ओर देखने की दृष्टि में प्रश्नाकुलता, संशय, अनेकान्तता (Ambiguity) आधुनिकता ने उत्पन्न की। इन सबको विलक्षण सजगतापूर्वक चेतना की समस्त शक्ति के साथ देखने की, गुनने की जरूरत को प्रतिस्थापित किया। कलाओं और साहित्यों के मूल में किसी एक तत्त्व को देखने और आरोपित करने के स्थान पर अनेकता और व्यामिश्रता के साथ जीना सिखाया। इस उभार में अनेक वैश्विक स्तर के लेखक पैदा हुए, जिन्होंने कालजयी कृतियां दीं। आधुनिकता की अजस्र विश्वव्यापी प्रवृत्ति ने महान् रचना बनाने की कुछ संभावनाएं निर्मित कीं। आधुनिकता के श्रेष्ठ या अच्छे साहित्य का मूल्य मानना आधुनिकता के पूर्व विनिर्मित रचनाओं का अवमूल्यन होगा और आधुनिकता के लहर के सिमटने पर महान् रचनाओं का निर्माण होना, असंभव स्वीकार करना होगा।

व्यक्ति की चिति या चेतना के समाज से अलग होकर स्वायत्त स्वतंत्र और प्रभावपूर्ण होने की स्थिति में आधुनिकता पैदा होती है। यहां अनेक सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक कारक सक्रिय रहते हैं। असल में व्यक्ति की चेतना का अपरिसीम महत्त्व, उसी समाज में स्वीकार हो सकता है, जिसमें व्यक्ति और समाज के संबंधों में एक ओर दूरी भी पैदा हुई हो और उस दूरी को स्वीकार करने की सांस्कृतिक क्षमता भी समूचे समाज में उत्पन्न हुई हो। धार्मिक मूलतत्त्ववाद जहां प्रबल हो या धार्मिक कर्मकांड ने जहां व्यक्ति को लगभग पूर्णतः बांध रखा हो, वहां व्यक्ति की चेतना शक्तिशाली रूप में प्रकट नहीं हो सकती। इसीलिए भारतीय समाज में विशेषतः हिन्दू धर्म के कर्मकांड, जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था से दबे मनुष्य का व्यक्तित्व ही इतना समृद्ध, वैविध्यपूर्ण, व्यामिश्र नहीं बन सकता, जितना एक व्यक्ति की कलात्मक ऊर्जा की मुक्त अभिव्यक्ति के लिए जरूरी है। हमारे यहां जो कलाएं विकसित हुई हैं, वे अनामिक भी रही हैं, उनमें व्यक्ति से अधिक पूरी पीढ़ियों की परंपरागत कारीगरी का उपयोजना हुआ है। हमारे यहाँ नाटकों के चरित्र भी व्यक्ति के रूप में नहीं, वर्गीकृत सांचों के रूप में निर्मित हुए हैं। आधुनिकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिस व्यक्तिवाद की भित्ति पर विकसित हुई है, उसके लिए हमारी समाज व्यवस्था विशेष उपयोगी प्रायः नहीं रही। भारतीय समाज व्यवस्था में घर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटक रहा है और गृहस्थ एक आदर्श पुरुष। घर और गृहस्थ, रिश्तों में बंधी इकाइयां हैं। घर अगर विशिष्ट जाति या वर्ण के शिकंजों, आचरण के नियमों में बंधा है, तो गृहस्थ का आचरण-धर्म भी सुनिश्चित है। यहां व्यक्ति को अपनी वैयक्तिक रुचियों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों का विचार नहीं करना होता, घर की प्रतिष्ठा या खानदान का विचार करना होता है। परिणामतः हमारे संवेदन, अभिवृत्तियां, कर्ममार्ग विशिष्ट आचरण धर्म से अनुशासित रहते हैं। इसमें व्यक्ति का महत्त्व नहीं होता पारिवारिक सदस्य का होता है, व्यक्ति की वैयक्तिक चेतना का महत्त्व नहीं होता। परिवार के कर्तव्यों और रिश्तों में आबद्ध सदस्य का आचरण जाति और वर्ण का सुनिश्चित कर्म, इनके बीच सुरेखित रास्ते पर चलनेवाला व्यक्ति सामान्यतः अपनी खास वैयक्तिकता, प्राइवेसी या सीक्रसी जैसी बातों के प्रति विशेष सजग नहीं होता और इनके लिए विशेष खबरदार होकर लडने की जरुरत उसे नहीं होती। हमेशा परिवार के प्रति एवं रिश्तेदारों के प्रति समर्पित व्यक्ति, अपनी आत्मकथा लिखते समय भी ऐसी घटनाओं प्रसंगों का 'सत्य' सामने लाने से हिचकेगा, जिनका प्रभाव उसके परिवार के सदस्यों पर अवांछित रूप में पड़ेगा - इसीलिए भारतीय समाज में लिखी गयी लगभग सभी आत्मकथाओं में, बहुत कुछ छिपाया भी जाता है। ऐसी स्थिति में लोक़ या समाज के प्रति बिरादरी का भाव तो पैदा हो सकता है लेकिन व्यक्ति की अपरिसीम महत्ता पर आधारित चिति का विकास नहीं हो सकता, उसमें ऊर्जा पैदा नहीं हो सकती। हमारे यहाँ व्यक्ति समस्त एतादृश्यत्व के प्रति विद्रोह की भूमिका में कम रहता है। और प्रकृति के साथ तो भारतीय मानस अत्यधिक संवाद की स्थिति में रहता है, इतना ही नहीं प्रकृति उनके लिए देवी है, माँ है, सहचरी है, सौंदर्य का अक्षय स्रोत है। विद्रोह की भावना मनुष्य को अन्तर्मुखी करती है, यह अन्तर्मुख होकर अपने मानस की गहराइयों की खोज के लिए विवश करती है - आधुनिकता का यह रूप हमारे समाज में विकसित होना मुश्किल है।

हमारे यहाँ चेतना की अबाध अभिव्यक्ति को कभी महत्त्व नहीं दिया गया। हमारे सामने योग का आदर्श है, जिसमें भटकने वाली चेतना को केन्द्रित किया जाता है और मन की अबाध गति को शून्यवत् करने का प्रयास

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किया जाता है। वैसे भी मन को कभी सर्वोपरि मानकर महत्त्व नहीं दिया गया। स्थितप्रज्ञ के आदर्श में मानवीय संवेदनाओं, अभिवृत्तियों को केन्द्रित करने में सार्थकता मानी जाती है। परिणामतः चेतना की क्रीड़ा, उस क्रीड़ा में उत्पन्न कल्पना लोक की विविधरंगी दुनिया में, भारतीय मानस रुचि नहीं लेता।

भारतीय मानस, अनेकता में एकता का खोजी मानस है। समस्त ब्रह्मांड के मूल में अवस्थित एक ब्रह्म या ईश्वर की कल्पना, हमारी इस मानसिकता के लिए अनुकूल पड़ती है। विविध रसों में हम किसी एक रस को मूलभूत मानते हैं, जैसा कि शैव दर्शन में शांतरस को सभी रसों का स्रोत माना गया है। हमारा वर्गीकरण भी एक से अनेकता की ओर अभिमुख होता है। आयुर्वेद में हर व्यक्ति का शरीर अलग नहीं माना जाता, समस्त शारीरिक रोगों को वात, चित्त, कफ से जोड़ा गया है। हमारे यहां ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक तत्त्व की तीन अवस्थाएं हैं और उनको देवता माना गया है और सबकी परिणति महेश के द्वारा विनाश में दिखायी जाकर भी विनाश नये निर्माण के लिए आवश्यक प्रलय माना गया है। विनाश या मृत्यु को अंतिम सत्य न मानने का परिणाम, अंतिम डिस्ट्रक्शन के भय को क्षीण कर देता है। हमारे यहां महेश देवता है, विनाशकारी राक्षस-तत्त्व नहीं (अतः घोर ट्रेजेडी की हमारे यहां उपस्थिति या परिकल्पना, कम है) आधुनिकता जिस आस्था को नकार देती है (जिस 'डिस्ट्रक्शन' को युगीन संवेदना मानकर गौरवान्वित करती है), वह आस्था हमारे जीवन-व्यापार का सक्रिय भाग है।

हमारी साहित्यिक परंपराओं में इस संकल्पना का सर्वोपरि महत्त्व था। उसका संबंध मन की विश्रांतावस्था से है। समस्त भौतिक तनावों, द्वन्द्वों के उपरान्त मन की प्रशांत अवस्था में ही सर्जना को मूल्यवान माना गया है। वाल्मीकि ने क्रौंच का वध देखा परंतु उससे उत्पन्न शोक, श्लोक में परिणत होने के लिए मन की विश्रान्त अवस्था को ही आवश्यक समझा गया है और सहृदय की मानसिकता भी द्वन्द्वहीन = विश्रांतावस्था में परिणत होती है। यह आदर्श आधुनिकता के सभी वैशिष्ट्यों से विपरीत है। वक्रोक्ति, अलंकार और रीति की भाषिक, भंगिमाओं का सौंदर्य शब्द की अपर्याप्तता के कारण नहीं, तोड़-फोड़ की बेचैनी के परिणास्वरूप नहीं - क्रीड़ा के परिणामस्वरूप उत्पन्न किया जाता है। व्यंजना की सार्थकता शब्द को अर्थहीन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करने से नहीं, शब्दों की अभिधा शक्ति को सम्मानपूर्वक नमन करते हुए उसके परे जाने में निहित है। भाषा के प्रति यहां सदैव प्रणतिभाव ही रहा है। भाषा के शुद्ध उपयोग में ही मंत्रशक्ति का अर्विभाव देखा गया है। हमारे यहां जो भी प्रयोग हुए हैं, परंपरा के प्रति सर्वथा विद्रोह भाव से नहीं, परंपरा की तोड़-फोड़ करके नहीं, परंपरा के साथ क्रीड़ात्मक रिश्ता रखकर। (जात, ईश्वर, स्वर्ग-नरक, जीवन का उद्देश्य सबके प्रति विरोध करने वाले भगवान बुद्ध भी भारतीय परंपरा में ही शामिल हुए और विद्रोही कबीर भी)।

भारतीय कला चिन्तन में सम्प्रेषण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। संप्रेषण के लिए साधारणीकरण भी आवश्यक समझा गया। साधारणीकरण में श्रोता या दर्शक और कलावस्तु में विरोध की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आधुनिकता का महल आत्माभिव्यक्ति पर खड़ा है और आत्माभिव्यक्ति के मूल में अपनी अलग पहचान, अपने विशिष्ट और नये कलाव्यक्ति की अस्मिता सक्रिय रही है। श्रोता की प्रत्यक्ष उपस्थिति मौखिक परंपरा में तो प्राणभूत वैशिष्ट्य रहा है और यह मौखिक परंपरा तभी संभव है जब श्रोता और वक्ता के बीच संपूर्ण संवाद है। आधुनिकता इस संवाद की ज़रा भी परवाह नहीं करती, क्योंकि वह लिखित परंपरा की मुख्यतः उपज है। आधुनिकता का अस्तित्व ही कलाकार के पृथक, वैशिष्टयवान, सामान्य साधारण और लोक से अलग अपनी पहचान पर सप्राण होता है। हमारी समस्त भारतीय साहित्यिक परंपरा में ऐसी स्थितियों की परिकल्पना नहीं है। हमारी गीति परंपरा भी पूर्णतः परंपरानुमोदित है - वैयक्तिक राग गीति में सार्वजनीन होता है। हमारी शिल्पकला, वास्तुकला, चित्रकला अधिकांश रूप में निवैयक्तिक और अनामिक भी रही है। वैयक्तिक तत्त्व क्षीण होने के कारण भारतीय कलाओं/साहित्यों में क्राइसिस, जो कि आधुनिकता का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है, को कभी महत्त्व नहीं मिला। हमारी मौखिक परंपराओं के कारण ही इतिवृत्तात्मक कथनशैली, वर्णनपरकता, दृष्टांत, उपमा, रूपक जैसे अलंकारों का प्राचुर्य, व्यास शैली का प्रचलन (सूत्र शैली, समास शैली केवल विद्वानों के लिए दर्शन और ज्ञान-विज्ञान में महत्त्वपूर्ण रही) इत्यादि का प्रायः प्रमुख प्रभाव रहा। आधुनिक रचनाकार, इनको बहुत हेय मानता है।

भारतीय साहित्य की परंपरा कालविद्ध कलाकार की नहीं है। आधुनिक साहित्य की प्रेरणा ही काल की मार से बेचैन, घायल, लहुहान कलाकार की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विवशतापूर्ण अभिव्यक्ति में है। एक तो भारतीय कलाकार की काल चेतना में, इतिहास मिथक के रूप में अवतरित होता है और मिथक कालातीत की ओर अभिमुख होता है। भारतीय बौद्धिक काल को सनातन मानता है, जबकि आधुनिक कलाकार की काल-चेतना में निरंतर संकोच होता गया है। शती, अर्धशती, चतुर्थ शती, दशक जैसी संकल्पनाएं लगातार यहाँ आती रही हैं। आधुनिकता अपनी अंतिम अवस्था में भले ही इतिहास के प्रति बगावत की भूमिका में उतर आती हो, कालबोध से उसका पीछा प्रायः नहीं छूटा। कालब्रिद्धता से मतलब कलाकार का अपने वर्तमान समय की समस्याओं, संकटो एवं चरम भीषण अवस्थाओं के भान से है, अपने वर्तमान की समग्र प्रतीति के साथ उसके लिए कारण बनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के यथासंभव समग्र नोध से है। इस अर्थ में भारतीय साहित्यिक परंपरा कालविद्ध नहीं है। भारतीय कलाकार, काल पर आक्रमण करने की भूमिका में भी कभी नहीं रहा। इसीलिए काल के साथ खिलवाड़ करने की आकांक्षा भी उसकी नहीं रही। परिणामतः स्मृत्यावलोकन का प्रदीर्घ प्रयास, फंतासी का प्रचुर उपयोग, चेतना प्रवाह का प्रयोग, शब्द की पर्याप्तता के बोध से तोड़फोड़ की प्रवृत्ति उसकी कभी नहीं रही। इसका एक अन्य कारण भारतीय कलाकार का एकान्त में लोक से अपने को पृथक मानकर अपनी अस्मिता का रोमंथन करते रहने में कभी रुचि न रखना भी है।

भारतीय साहित्य में साहित्य की जो अभिजात परंपरा थी, उसका लक्ष्य अध्यात्मिकता की ओर मुड़ा था तो लौकिक कलाओं का मनोरंजन की ओर। साहित्य जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों के माध्यम से जीवन की समस्याओं से जूझता है, इसमें पाठक को सहभागी करता है, उसको झकझोरता है, बेचैन करता है, ऐहिक धरातल पर मनुष्य के विभिन्न रूपों से साक्षात्कृत करता है, यह आधुनिक साहित्य के चिन्तन के मूल में विद्यमान अवधारणा भारतीय साहित्य में विरल रूप में विद्यमान रही। अपनी चेतना की आवेगमय अभिव्यक्ति में पाठक को घेरने का लक्ष्य तो कभी नहीं रहा। फिर अपनी दुर्दान्त चेतना के आवेग में मानवीयता विहीन या अमानवीयता की सीमातक जाने की आधुनिक साहित्य के क्राइसिस की चरम अवस्था, भारतीय साहित्यकारों के लिए कल्पनातीत था। वैसे भारतीय साहित्यकार सामान्यतः एक भावुक व्यक्ति है। जन्म, विवाह, मृत्यु, सेक्स इत्यादि प्रसंगों में निर्वैयक्तिक होना भारतीय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेखक के लिए असंभव था। मनुष्य और जीवन एक ही समय ध्वंस और उत्सव के रूप ग्रहण कर सकते हैं, हास्य और ट्रॅजिक स्थितियों का चित्रण एक साथ सार्थक ढंग से किया जा सकता है, यह भारतीय रसवादी परंपरा में दीक्षित लेखक के लिए कल्पनातीत बात है। क्योंकि चिरंतनता में आस्था रखनेवाले व्यक्ति के लिए, विश्व का विनाश भी हो सकता है, यह सोचना भी असंभव था। महाभारत में पांडव महाप्रस्थान में एक एक करके मर अवश्य जाते हैं, परंतु मरकर स्वर्ग के द्वार और अधिक अच्छा श्रेष्ठ जीवन, उनके लिए सुरक्षित था। इसीलिए महाभारत का शांत रस विश्रान्तवस्था में परिणत हुआ।

अब तक हमने देखा कि भारतीय संदर्भ में (दर्शन, सांस्कृतिक और सामाजिक स्थितियां और साहित्यिक परंपरा) आधुनिकता की जो लहर आयी, वह लगभग हमारी मानसिकता के विपरीत थी। उन्नीसवी सदी के अंत में लगभग सभी भाषाओं में जो लिखित-मुद्रित साहित्य पैदा हुआ वह मनोरंजन-परक था क्योंकि पश्चिमी साहित्य का वही साहित्य यहां पढ़ा गया, जो केवल मनोरंजन के लिए लिखा गया था - साहित्यिक समृद्ध परंपरा में जो नहीं गिना जाता था। बाद में गंभीर रूप में हमारे साहित्यकारों ने पश्चिमी आधुनिक साहित्य को स्वीकारा और लगभग सभी विधाओं पर उसका प्रभाव पड़ा। पहली बार नाटकों, उपन्यासों, कहानियों में समकालीन जीवन की समस्याओं का चित्रण होने लगा। साहित्य में नैतिक तत्त्व कुछ अध्यात्मिक मूल्यों तक सीमित न रहकर ऐहिक जीवन से संबद्ध नैतिक प्रश्न उठाये जाने लगे। यह प्रयास किया गया कि साहित्य जीवन के समानान्तर हो, जीवन का प्रतिबिंब हो। यथार्थवाद की मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा होने लगी। रसात्मकता का निकष इस साहित्य के मूल्यांकन के लिए अपर्याप्त सिद्ध होने लगा। जीवन का विद्रूप साहित्य में पैर फैलाने लगा। मनुष्य का इकहरा रूप सरलीकरण लगने लगा, मनुष्य और मनुष्य के बीच के रिश्तों पर पुनर्विचार होने लगा और साँचे में ढले रिश्तों के संबंध नाकामी होने लगे। साहित्यकार मनुष्य के व्यामिश्र मन की खोज करने लगे और उन्हें उसकी अलग गहराइयों ने चमत्कृत कर दिया। नयी ऐहिक जीवन संबद्ध उदार मानवतावादी विचारधारा ने धार्मिक विषमता पर प्रश्न चिह्न लगाया और आर्थिक विषमता की अमानवीयता सामने आयी। नारी के प्रति दृष्टिकोण बदला। समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व के मूल्यों को लगभग स्वीकार किया गया। स्त्री-पुरुष के बीच की अमानुष विषमता पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तीखी नजर गयी। और पुरुष अपनी ओर अपराध भाव से देखने लगा। नारी-पुरुष रिश्ता और नारी में उदित अस्मिता ने, साहित्य का स्वरूप ही बदल दिया। स्त्री-पुरुषों के बीच समानता के स्तर पर प्रेम और प्रणय (केवल शृंगार नहीं) की भावनाएं साहित्य में प्रतिबिंबित होने लगी और प्रणय के अनेक आदर्श रूप साहित्य में झलकने लगे। जीवन से संबद्ध अनेक प्रवृत्तियों ने - राष्ट्रीयता, समाज-सुधार, धर्म की आलोचना, रूढ़ियों की अमानवीयता, स्वातंत्र्य की आकांक्षा, उद्योगों और तकनीकी विकास के कारण उत्पन्न होनेवाली समस्याएं, समाज के विविध स्तरों में होने वाले परिवर्तन, बदलती आकांक्षाएं, दलित वर्ग का उत्थान - ये सारी बातें साहित्य में आने लगीं। यह साहित्य की कालबिद्धता का परिणाम था और उसके पार्श्व में पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव था। धीरे-धीरे आधुनिकता साहित्य में सिमटकर उपयुक्त विभिन्न प्रवृत्तियों की पश्चिमी छाया भी हमारे साहित्य पर पड़ी।

यह साफ कहना होगा कि पश्चिमी आधुनिक विचारों के जीवन विषयक सोच और जीवन मूल्यों के लिए जिस अनुपात में हमारा समाज, हमारी व्यवस्था, हमारा आर्थिक-सामाजिक ढाँचा बदला, उस अनुपात में हमारे लेखकों ने भी ग्रहण किया और कुछ अच्छी रचनाएं प्रस्तुत की। असल में आधुनिकता का समग्र बोध भारतीय मानस के लिए विलक्षण क्रांति या आमूल-चूल बदलाव का प्रेरक था और उसमें उखड़ जाना संभव था। हमारी मानसिकता के पूर्णतः विपरीत प्रवृत्ति के साथ संबंध होना एक बड़ी फिसलत थी। सौभाग्य से हिन्दी के लिए प्रेमचंद जैसा शक्तिशाली लेखक मिला और हिन्दी साहित्य ने जीवन से जुड़ाव का रास्ता नहीं छोड़ा (जैनेद्र, अज्ञेय भी इसके अपवाद नहीं हैं।) उसी अनुपात में आधुनिक दृष्टियों, मूल्यों, विचारसारणियों, जीवन प्रणालियों को स्वीकार किया, जिस अनुपात में भारतीय जीवन प्रत्यक्ष रूप से बदल रहा था। लेकिन जहां अतिवाद हुआ, पश्चिमी प्रयोग को सब कुछ मानकर अन्ध अनुकरण हुआ, वहां हमारा साहित्य भी मात खा गया। आधुनिकता का अतिरेकी रूप, जिसका प्रस्तुत लेख में विवेचन किया गया है। मन या चिति को स्वायत्त मानकर, शून्य में कल्पना के पंखों पर बैठकर उड़ान भरना और भाषा को अतिवाद की सीमा तक तोड़फोड़ की दिशा में ले जाना, अपनी अस्मिता की पहचान के आगे सब कुछ को ठुकराना, साहित्य में संप्रेषण, संवाद, तादात्म्यता की परवाह न करना, दुनिया का नरक, अंधेरा, विद्रूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देखकर उसे ही सब कुछ समझना, निहिलिज्म (इ.) को सौभाग्य से क्षीण समर्थन मिला, बौद्धिकता के आवेश में ही वह रहा। सृजन के स्तर तक नहीं उतरा। क्योंकि भारतीय मानस की भी अपनी दृढ़ पृष्ठभूमि थी, आधार भित्ति थी और विरोधी हवा को सहने की क्षमता उनमें थी। भारतीय साहित्य में जो महान रचनाएं हुई हैं - और हुई हैं - वे आधुनिकता का स्वस्थ रूप और संस्कार ग्रहण कर हुई, उसके अतिरेकी रूप को टाल कर ही हुई हैं। और इस अतिरेकी रूप को टालने में और एक संतुलन को बनाये रखने में, भारतीय परंपरा का सजग भान भी एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा। यह सही है हम कोई 'युलिसिस' जैसा प्रयोगधर्मी शक्तिशाली उपन्यास नहीं दे पाये, परंतु भारतीय परंपरा में रहकर सृजन कार्य करनेवाले भारतीय साहित्यकारों की उपलब्धियां भी नगण्य नहीं हैं। १९३० के बाद पश्चिम में एक छोर को नये आधुनिकता के प्रभाव ने पुनः समाज और लोकजीवन से नाता जोड़ा, चेतना की सीमाओं को पहचाना, बाह्य और आन्तरिकता के बीच के अन्तर को कम किया, दोनों को समन्विति में देखने की उपयुक्तता समझी, भाषा की तोड़फोड़ से अधिक, उसके साथ क्रीड़ा की वृत्ति को वरीयता मिली। यह भी अनुभव किया गया कि लेखक और पाठक के बीच समझौता या संवाद बेहद जरूरी है (इसमें मुद्रित साहित्य के अर्थशास्त्र ने भी अपनी अहमियत दिखायी होगी।) यह बात दूसरी है कि इस संवाद के लिए लेखक कितनी फिक्र करे, झुके और पाठक कितना अपने को प्रबुद्ध बनाये। यह भी सिद्ध हुआ कि आधुनिकता के एक छोर से नये रूप से कुछ रचनाएं लिखी भी जाती हैं तो कचरा भी कम नहीं पैदा होता। यह भी स्पष्ट है कि आधुनिकता एक मात्र कसौटी नहीं है (असल में वह कसौटी है ही नहीं, अनुभव को समझाने की, स्वरूप को जानने की एक अवधारणा है।) क्योंकि आधुनिकता के आविर्भाव के पहले भी श्रेष्ठ साहित्य लिखा जा चुका है और इसका प्रवाह क्षीण होने पर भी जो लिखा जा रहा है, उसमें अच्छी और श्रेष्ठ रचनाएं लिखी जा रही हैं। भारतीय परिवेश में आधुनिकता की उत्साह से चर्चा तो हुई, परंतु जो अच्छा साहित्य लिखा गया वह आधुनिकता की चकाचौंध से प्रभावित होकर नहीं लिखा गया। वैसे भारतीय अच्छी और श्रेष्ठ रचनाओं का अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि केवल आधुनिक बनकर किसी रचनाकार ने अच्छी रचना नहीं की। (हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत, प्रसाद, दिनकर, अज्ञेय, धर्मवीर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारती, जैनेंद्र कुमार, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नागर इ.) भारतीय लेखकों ने परंपरा से अपने को जोड़कर रखा। कुछ लेखकों ने अपने भटकाव को समझकर पुनः अपने को संतुलित किया। मराठी के शीर्षस्थ नये कवि मर्ढेकर और हिन्दी के शीर्षस्थ कवि अज्ञेय दोनों में आधुनिकता और भारतीय परंपरा का एक सुष्ठु समन्वय मिलता है। भारतीय लेखकों ने हमारे काव्यशास्त्र की सीमाएं समझकर आवश्यक ग्रहण और त्याग की स्वस्थ परंपरा को कभी नहीं छोड़ा।

डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर

७, शाकुन्तल,
साहित्य सहवास,
कलानगर, बांद्रा,
मुंबई

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदान्त के प्रमुख सम्प्रदायों में आत्मा का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त में आत्मा का स्वरूप :

परब्रह्म चिदानन्द स्वरूप है। जो देहाभिमानी अहंप्रत्ययगम्य है वह प्रकृत आत्मा नहीं है, वह अविद्या कल्पित अर्थात् अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य है, जिसे जीव कहते हैं।[१] सर्वव्यापी परमात्मा शरीर-मन-बुद्धि के संघात में व्याप्त होकर उनसे स्वभावतः तादात्म्य कर लेता है। इससे बुद्धि में अहंकार की प्रतीति होती है और इस अवस्था में वह जीव कहलाता है। शंकराचार्य ने जीव की परिभाषा इस प्रकार से दी है ...

"जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी"

अर्थात् जीव बुद्धि आदि की उपाधियों से परिच्छिन्न होने का अभिमानी है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अहं प्रत्यय का आधार कोई स्वयं नित्य पदार्थ है जो तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी पंचकोशातीत है।

"अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहं प्रत्ययलम्बनः।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्पंचकोषविलक्षणः॥[२]

आत्मा उपाधियों से परिच्छिन्न है। आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा के अस्तित्व का निराकरण नहीं किया जा सकता, जो निराकरण करनेवाला है, वह आत्मा ही है। अतः सभी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान रखते हैं। कोई भी यह नहीं कहता कि 'मैं नहीं हूँ'।[३]

आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व को ही अद्वैत वेदान्त में परमतत्त्व माना गया है। आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभय है। यह जड़ जगत् से नितान्त भिन्न चेतन तत्त्व है। इस चेतन का अचेतन से सम्बन्ध तो मात्र भ्रम या अध्यास है। जिस प्रकार हम भ्रम की अवस्था में रस्सी को साँप समझ लेते हैं, उसी प्रकार हम अध्यास के कारण मन, बुद्धि, अहंकार आदि को चेतन आत्मा समझ लेते हैं। जिस प्रकार हमारी सभी स्थूल व सूक्ष्म इन्द्रियाँ अनात्म हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार ही अनात्म है। इस भौतिक संसार से अध्यात्मिक आत्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा सर्वथा असांसारिक, अध्यात्मिक, विभु, व्यापक, अजन्मा, अविकारी, नित्य, ज्योतिस्वरूप, शाश्वत तत्त्व है। वह कर्म तथा कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त है। यह जन्म तथा मृत्यु से परे है। अतः नित्य तथा निर्विकारी तत्त्व माना गया है। यह ज्ञान का विषय नहीं,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बल्कि ज्ञान ही है। आत्मा स्वतः सिद्ध है। शंकराचार्य का कथन है कि आत्मा स्वयं सिद्ध है, अर्थात् आत्मा की सिद्धि के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा के प्रकाश से ही सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। आत्मा को प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार दीपक तो स्वयं प्रकाश है, जो स्वयं प्रकाश एवं प्रकाशवान् है, तो उसे प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा के इस स्वयं प्रकाश का एक विशेष अर्थ होता है। 'आत्मा स्वयं प्रकाश है' इसका यह अर्थ है कि आत्मा सभी प्रमाणों का आधार है। अर्थात् इसका यह तात्पर्य है कि आत्मा को माने बिना प्रमाणादि व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकते। अतः प्रमाण का व्यवहार करने से पूर्व हमें शुद्ध चेतन आत्मा को स्वीकार करना ही होगा। यह सर्वाधार चैतन्य है। शुद्ध चैतन्य होने से आत्मा प्रमाता है। प्रमाता को माने बिना प्रमाण के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। अतः प्रमाता की सत्ता तो प्रमाणव्यवहार की पूर्वमान्यता है। यदि प्रमाता का अस्तित्व प्रमाण से पूर्व है तो इसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। अतः इस दृष्टि से उपनिषद् में कहा गया है कि जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसे किससे जाना जाये।

"येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।"[४]

शंकराचार्य के अनुसार आत्मा की सत्ता स्वीकार किये बिना किसी प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं हो सकता। अगर कोई व्यक्ति आत्मा का निषेध करे तो उसे पहले आत्मा की सत्ता स्वीकार करनी होगी। निषेध या निराकरण भी तो भाव का ही सम्भव होता है। अतः निराकरण से भी निराकर्त्ता (आत्मा) की सत्ता है।

"य एव हि निरसकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्"[५]

'मैं नहीं हूँ' यह कहने से भी मैं की सत्ता सिद्ध ही है। यदि मैं नहीं तो किसके अस्तित्व का निषेध होगा? अतः आत्मा स्वयं सिद्ध, स्वयं प्रकाश, सर्वाधार है। श्रुतियों में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये आत्मा की चार अवस्थायें बतायी हैं ..

१. **जाग्रत अवस्था** - इसमें चेतना का विषय बाह्य होता है।

२. **स्वप्नावस्था** - इसमें चेतना का विषय आन्तरिक होता है।

३. **सुषुप्तावस्था** - इसमें चेतना का विषय आन्तरिक होता है। अतः यह आनन्द की अवस्था है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. **तुरीय अवस्था** - यह अवस्था शुद्ध चेतनां की अवस्था है जिसमें कोई भी विषय नहीं होता। अतः इससे सिद्ध होता है कि सभी अवस्थाओं में चेतना है। अतः चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप कहलाता है।

आत्मा और ब्रह्म में सम्बन्ध :

अद्वैतवाद में बताया है कि आत्मा अजन्मा, नित्य और शाश्वत् है। इससे यह तात्पर्य है कि आत्मा में क्षयादि दोष नहीं होते। शाश्वत् होने के कारण ही आत्मा को पुराण भी कहा गया है। अर्थात् प्राचीन होकर भी नवीन है। आत्मा अपरिवर्तनीय है, क्योंकि इसमें परिवर्तन का कोई स्थान नहीं है। यह शाश्वत् है, इसलिये यह सदा विद्यमान रहती है। इसका अन्यथा भाव सम्भव नहीं है।[६] संक्षेप में यह कहा गया है कि आत्मा देह नहीं देव है, जड़ नहीं चेतन है, दृष्य नहीं द्रष्टा है, परिच्छिन्न नहीं अपरिच्छिन्न है। शंकराचार्य कहते हैं कि परब्रह्म के विभु होने से तद्व्यपदेश आत्मा भी विभु है। तात्पर्य यह है कि आत्मा सर्वव्यापक है। अतः यह आत्मा ही ब्रह्म है, हमारा ऐसा विश्वास है कि हमारे अन्दर एक ऐसी सत्ता है जो सुख-दुःख, पाप-पुण्य, गुण-अगुण से परे है और वह आत्मा है। आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है। आत्मा परमात्मा का ही अंश है। आत्मा, परमात्मा का काल्पनिक रूप नहीं है, अपितु वास्तविक रूप है। आत्मा ब्रह्म का ही सीमित व्यक्त रूप है। आत्मा ब्रह्म से निकली है, ब्रह्म से निकलने के रूप में उतनी नहीं है, जितनी कि उसके अंश रूप में है। आत्मा ब्रह्म के ही समान है, क्योंकि कारण और कार्य मूलतः एक ही हैं, जिस प्रकार कि 'मैं ब्रह्म हूँ' 'वह तू है' आदि वाक्यों से व्यक्त होता है।[७]

शंकराचार्य की दृष्टि से एकमात्र तत्त्व है। जो तत्त्व अन्दर है वही बाहर भी है। आत्मा नित्य चैतन्य है, जो संसार के व्यावहारिक जगत् का आधार है। आत्मा को ही निर्विशेष ब्रह्म समझो, वही निरतिशय भूमाख्य आत्मा है।[८] आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा से परे कुछ भी नहीं है। वही सबका अन्त है, वही परम लक्ष्य है।[९]

उपनिषदों में इस प्रकार के अनेक स्थान हैं, जहाँ आत्मा व ब्रह्म के स्पष्टतः अभेद का प्रतिपादन किया गया है। 'अयामात्मा ब्रह्म'[१०] 'अहं ब्रह्मस्मि'[११] 'तत्त्वमसि'[१२] 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'[१३] आदि समस्त स्थल आत्मा और ब्रह्म के अभेद का उद्घोष करते हैं। शंकराचार्य अपने अद्वैत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वेदान्त में आत्मा के परिणाम पर विचार करते हुए कहते हैं कि आत्मा अणु से भी अणुतार आदि सूक्ष्म पदार्थों से भी सूक्ष्मतर और महान् से भी महानतर अर्थात् पृथ्वी आदि महत्परिणाम वाले पदार्थों से भी महत्तर है।

विशिष्टाद्वैतवाद में आत्मा का स्वरूप :

रामानुजाचार्य के अनुसार चित्, अचित् और ईश्वर - ये तीन तत्त्व हैं। इसमें चित् का अर्थ है - चेतन जीव। या चित् तत्त्व ही जीवात्मा है। यह चिद्रूप जीव चेतना से मुक्त नित्य, अखण्ड, अव्यक्त, अविकार्य, ज्ञानाश्रय और स्वयं प्रकाश-अणुपरिणामी तथा यथार्थ रूप है। यह शरीर इन्द्रिय प्राण और मन से भिन्न है। यह सबका ज्ञाता कर्त्ता और भोक्ता है।[१४] रामानुजाचार्य के अनुसार आत्मा ही जीवात्मा है। अविद्या की उपाधि से संयुक्त आत्मा ही जीवात्मा है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि आत्मा और जीवात्मा में कोई अन्तर नहीं है। ऋग्वेद के अनुसार - मनुष्य के अन्दर एक अजन्मा नित्य अमरतत्त्व है जो शरीर, जीवन, मन और बुद्धि से भिन्न है। देह इन्द्रियाँ आदि आत्मा नहीं हैं, अपितु उसकी उपाधियाँ हैं, उसकी बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं।[१५]

आत्मा का ज्ञातृत्व :

रामानुजाचार्य के अनुसार आत्मा एक नित्य चेतन द्रव्य है। ज्ञान ही इसका स्वरूप है। इसी कारण इसको ज्ञाता कहते हैं। प्रश्न उठता है कि ज्ञान और आत्मा में क्या सम्बन्ध है। शंकराचार्य के अनुसार चैतन्य या ज्ञान ही गुण-गुणी, धर्म-धर्मी सम्बन्ध है। चैतन्य या ज्ञान आत्मा का गुण है, धर्म है, आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है। रामानुज के अनुसार ज्ञान ही आत्मा का स्वभाग या स्वरूप है।[१६] ज्ञान के कारण ही जीव ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता कहलाता है। बन्धन तथा मुक्ति दोनों ही अवस्थाओं में जीव का ज्ञातृत्व बना रहता है।

आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व :

जीवात्मा के ज्ञातृत्व के साथ आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी स्वयं सिद्ध है, क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व ज्ञान की अवस्था विशेष ही हैं। जीव स्वाभाविक रूप से कर्त्ता एवं भोक्ता है। रामानुज आत्मा को वास्तविक रूप में कर्त्ता और भोक्ता स्वीकार करते हैं।

आत्मा का अंशत्व :

अभिन्नता की दृष्टि से देखने पर जीव ब्रह्म का अंश है। जीव को ब्रह्म का अंश कहा गया है। अतः इसको स्पष्ट करते हुए रामानुज कहते हैं कि जिस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार देह-देही का अंश है, उसी प्रकार जीव का अंश है--

"यथादेहिनो देवमनुष्या दिदेहांशः तद्वत्" [१७]

आत्मा के प्रकार :

रामानुजाचार्य के अनुसार अवस्थाओं की भिन्नता के आधार पर आत्मा की तीन श्रेणियाँ बतायी गयी हैं [१८], १. नित्य, २. मुक्त तथा ३. बद्ध।

नित्य जीव :

ये कभी संसार में नहीं आते तथा इनका जो ज्ञान है वह कभी भी समाप्त नहीं होता। ये आत्माएँ सदैव बैकुण्ठ में निवास करती हैं। इन्हें भगवान् का परिकर कहा जाता है। विवेक सेन, गरुड आदि इनके उदाहरण हैं। ये जन्म, मृत्यु तथा कर्म के बन्धन से हमेशा मुक्त रहती हैं और आनन्द का उपभोग करती हैं। ऐसे जीवों के ज्ञान में संकोच का अवसर नहीं आता। [१९]

मुक्त जीव :

मुक्त जीव अर्थात् वे आत्मायें जो प्रकृति और कर्म के बन्धनों से अपने ज्ञान, कर्म, भक्ति के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करते हैं। 'तत्त्वमसि' जो वाक्य है, इसके द्वारा जब जीव और ब्रह्म के ऐक्य का ज्ञान हो जाता है तथा ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है तब जीव 'मैं ब्रह्म हूँ' का अनुभव करता है और तब वह मुक्त जीव कहलाता है।

बद्ध जीव :

ये सांसारिक जीव हैं, जो सभी प्रकार के शरीरों में निवास करते हैं। बद्ध जीवों के चार वर्ण हैं - देव, मानव, पशु तथा स्थावर। यद्यपि सभी जीवों में कोई तात्त्विक भेद नहीं होता, तथापि शरीर भेद से उनमें भेद दिखाई पड़ता है। कुछ विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् जीवों को एक भेद नित्य बद्ध भी मानते हैं। नित्य बद्ध वे जीव हैं जो सदा संसार चक्र में फँसे रहते हैं। [२०]

जीवात्मा तथा ब्रह्म में सम्बन्ध :

रामानुजाचार्य के अनुसार जीव और ईश्वर का स्वरूप तो चेतन ही है। दोनों का लक्षण चैतन्य है। लेकिन दोनों की चेतना या ज्ञान एक समान नहीं है। जीव अल्पज्ञ है तथा ईश्वर सर्वज्ञ है। अतः दोनों का स्वरूप-ज्ञान होते हुए भी अल्पज्ञ और सर्वज्ञ का भेद बना ही रहता है। जीव का जो ज्ञान है वह कभी ईश्वर के समान नहीं होता। जीव में अज्ञान है। व्रह माया के कारण सीमित होता है। अज्ञान से आवृत होने के कारण वह अल्पज्ञ है। ईश्वर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में अज्ञान की उपाधि नहीं रहती है, अतः वह सर्वज्ञ है। चेतना जीवात्मा और परमात्मा का समान लक्षण है। विशिष्टद्वैतवाद के अनुसार जीवात्मा पूर्ण रूप से ईश्वर पर आश्रित है। यह ईश्वर का शरीर है तथा आत्मा है। यह धार्य है तथा ईश्वर कर्त्ता है; यह नियाम्य है तथा ईश्वर नियन्ता है, यह शेष है तथा ईश्वर शेषी है। यह अंश है तथा ईश्वर अंशी है तथा पूर्ण है।

रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्म की ही तरह नित्य है। जिस प्रकार से आग और हवा ब्रह्म की सृष्टि हैं, उसी प्रकार जीव ब्रह्म की सृष्टि नहीं है। वे ब्रह्म से इस प्रकार उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार आग से चिन्गारियाँ।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोस्त्वेकः पिप्पलं खादति अनश्नन्नन्यो अमिचाकशीति ॥"[२१]

श्रीभाष्य में रामानुज ने जीव और परमात्मा में भेद की चर्चा की है। उपनिषदों के कुछ सूत्रों की व्याख्या करते हुए रामानुज कहते हैं कि शरीर रूप वृक्ष में दो पक्षी हैं, वे पक्षी शोमन पक्षों से युक्त हैं। उनमें एक पक्षी अपने कर्म से जन्य फल भोग रहा है, दूसरा पक्षी कर्म फल को भोगने वाला नहीं है, कर्म फल को भोगे बिना प्रकाशमान वेदान्ती लोग इन पक्षियों को इस प्रकार कहते हैं - जीवात्मा पक्षी शरीर पाकर शरीर द्वारा कर्म फल भोग रहा है, दूसरा परमात्मा पक्षी जीवात्मा रूपी पक्षी को उसके कर्मानुसार शरीर देकर उस शरीर द्वारा कर्म भोग कर उसे दे रहा है। दोनों पक्षी हृदय गुहा में बस रहे हैं। जीवात्मा रूपी पक्षी अज्ञ है, परमात्मा रूपी पक्षी सर्वज्ञ है, अतः स्वतन्त्र है। अतः जीव तथा ईश्वर में पूर्ण रूप से तादात्म्य नहीं है। रामानुज कहते हैं कि तादात्म्य का अर्थ ऐक्य नहीं है। यह असाधारण अपृथकता को सूचित करता है, उनका कहना है कि जीव चाहे जितना भी विकास कर ले ईश्वर उससे उच्च ही रहेगा। जीवात्मा ईश्वर का एक विशेषण मात्र है, वह कभी ईश्वर नहीं बन सकता।

जीवात्मा सर्वोपरी ब्रह्म के एक रूप द्वारा यथार्थ, अद्भुत, नित्य बुद्धि, सम्पन्न और आत्म चेतना से युक्त, अखण्ड, अपरिवर्तनशील, अदृश्य और आणविक है। वह ज्ञाता है, कर्त्ता है और भोक्ता भी है। अणु होते हुए भी आत्मा दीपक के प्रकाश की तरह सारे शरीर में चेतना बनाये रखती है।

"नानात्मनो व्यवस्थातः[२२]

रामानुज के अनुसार चेतना ही नहीं, आनन्द भी आत्मा का स्वाभाविक लक्षण है।[२३]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

द्वैतवाद में आत्मा का स्वरूपः

आचार्य मध्व के अनुसार जीवों की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है। जीवों का नाश नहीं होता। जीवात्मा ब्रह्म के प्रतिबिम्ब के सदृश्य है। अतः वे तब तक स्थिर रहते हैं, जब तक वे ब्रह्म स्थित हैं और इसलिये वे नित्य हैं। जिन उपाधियों के द्वारा ये प्रतिबिम्ब सम्भव होते हैं वे जीवों की उपाधियाँ दो प्रकार की होती हैं - १. बाह्य उपाधि तथा २. स्वरूप उपाधि। बाह्य उपाधि का नाश होता है, लेकिन स्वरूप उपाधि का नाश नहीं होता। इस प्रकार जीवात्मा की ब्रह्म के साथ एकता भी है तथा भिन्नता भी। जीव अपने अस्तित्व के लिये ईश्वर पर निर्भर है तथा स्वरूप में वह ईश्वर के समान है।

मध्वाचार्य द्वारा स्वीकृत स्वरूप नश्वर होता तब तो अनित्यता का प्रश्न उठ सकता था, लेकिन जब दोनों ही अविनश्वर हैं तब जीवात्मा की नित्यता के विषय में कोई सन्देह नहीं रहता।[२४] मध्वमत के अनुसार जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व दोनों मिथ्या नहीं हैं। जीवात्मा का ज्ञातृत्व भी इसी प्रकार ईश्वर के अनन्त ज्ञान से भिन्न तथा निश्चित है। ज्ञान का आश्रय होने के कारण जीवात्मा को, इस मत में अज्ञान का आश्रय माना गया है।[२५] जीव अत्यन्त सत्तावान है, इसकी नित्यता श्रुति-प्रतिपाद्य है--

"नित्यो नित्यानामिति जीवस्य नित्यत्वमुक्तम्।"[२६]

वह आनन्दात्मक है। मुक्त अवस्था में आनन्द-बाहुल्य के कारण ही वह ईश्वर के समान हो जाता है। द्वैतवाद में जीव की साकारता पर बहुत बल दिया गया है। आकार के बिना किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार अणु का आकार होता है, उसी प्रकार जीवात्मा का भी आकार होता है। अणु के आकार की स्थिति जिस प्रकार से अनादि है, उसी प्रकार जीवात्मा का आकार भी अनादि है। जीव के स्वरूप की साकारता तो है ही।[२७] आत्म प्रकाशी तत्त्व कोई न कोई आकार अवश्य लिये होता है, जैसे - दीपक की ज्योति। उसी प्रकार जीव की आत्म प्रकाशता के लिये आकार का होना अपरिहार्य है।

द्वैतवाद के अनुसार अनुभव का आधार जीवात्मा है। एक जीव का अनुभव दूसरे जीव के अनुभव से भिन्न होता है। मध्वाचार्य ने जीवों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है-- १. मुक्ति योग्य, २. तमोयोग्य, ३. नित्य संसारी

मुक्ति योग्य पुनः पाँच प्रकार के हैं : 'देव' जैसे - ब्रह्मा, वायु आदि;

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'ऋषि' जैसे - नारदादि; 'पितृ' जैसे - विश्वामित्र आदि; 'चक्रवर्ती' जैसे - रघु, अंबरीष आदि तथा 'मनुष्योत्तम'। इन जीवों में अनेक तारतम्य हैं।

तमोयोग्य पुनः दो प्रकार के हैं : 'चतुर्गुणोपासक' और 'एकगुणोपासक' जो सत्, चित्, आनन्द और आत्मारूप में ईश्वर की उपासना करते हैं वे तो 'चतुर्गुणोपासक हैं और जो केवल आत्मा को ही परम देव भगवान् समझ कर उपासना करते हैं वे 'एकगुणोपासक' हैं।

नित्य संसारी : ये जीवात्माएँ सदैव सुख-दुःख भोगती हैं। ये हमेशा स्वर्ग-नरक तथा पृथ्वी पर घूमते हैं।

मुक्त जीवात्मा में भी आनन्दानुभूति के तारतम्य हैं -

'मुक्तां प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिता अदि तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः ॥'

आत्मा तथा ब्रह्म का सम्बन्ध :

मध्वाचार्य के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक-दूसरे के पर्याय हैं, जीव आदि के लिये आत्म शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, चेतन होने के आधार पर आत्मा और ब्रह्म में समानता है। जीव और ब्रह्म का सर्वथा द्वैत है। चैतन्य के आधार पर दोनों एक ही जाति के हैं। लय का अर्थ द्वैतनाश न होकर द्वैत प्रतीति का अभाव है - जैसे, जलराशि में जलबिन्दु का पार्थक्य नहीं होता। आत्मा ही स्वतन्त्र है, जबकि जीव परतन्त्र है तथा जीव कर्त्ता भी नहीं है। आत्मा के वशीभूत होकर वह अपने कर्तृत्व का आरोप कर लेता है।

१. न च भेदे विकल्पो युज्यते।

२. न चानिर्वचनीये किंचिन्मानम्।

३. न च कयापि युक्त्या मानेन वा भेद निराकरणं भवति।

भेद में विकल्प अयुक्त है, अनिर्वचनीय में कोई प्रमाण नहीं और किसी युक्ति या प्रमाण से भेद का निराकरण सम्भव नहीं। 'आत्मज्ञान का अर्थ आत्मविषयक ज्ञान' ही है। अतः आत्मा जीव के ज्ञान का विषय होता है। विषय हुये बिना आत्मज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान क्रिया का कर्म होने पर आत्मा का ज्ञान हो सकता है, आत्मा दृश्य न हो तो आत्मज्ञान सम्भव नहीं, जिसे तदाकार होना कहा जाता है वह एकत्व न होकर ज्ञान का विषय होना ही है।

द्वैतवाद के अनुसार जीव पूर्णतः ब्रह्माधीन ही निरूपित किया गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आत्मा और ब्रह्म भिन्न होते हैं, वे सर्वथा विलक्षण हैं। इतना होने पर भी तथा सबका प्रेरक होने पर भी मन्द बुद्धि वाले जीवों को वह परमेश्वर सूक्ष्म वाला होने के कारण भेद रूप से प्रतीत होता है। वस्तुतः जीवात्मा और ब्रह्म इन दोनों की विलक्षणता को जानकर ही अर्थात् जीव, अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान है तथा ईश्वर, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। इत्यादि रूप से अलग-अलग लक्षणों को जानकर ही जीव की मुक्ति होती है। ऋग्वेद में तो यही कहा है कि 'जीवात्मा' तथा 'ईश्वर' रूपी दो पक्षी हैं तथा दोनों ही मित्र हैं। इस शरीर रूपी वृक्ष के हृदय रूपी घोंसले में एक साथ मिलकर बैठे हैं। वह इस शरीर रूपी वृक्ष में सुख-दुःख रूपी फलों का सेवन न करता हुआ भी स्वतः सर्वथा प्रकाशवान बना रहता है। अतः आत्मा और ईश्वर में यही महान् भेद है।

शुद्धाद्वैतवाद में आत्मा का स्वरूप :

शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार परब्रह्म ही अपने चित् अंश को लेकर जीवरूप में प्रकट होता है। जीव ब्रह्म के ही समान नित्य है। ज्ञाता, ज्ञानरूप तथा अनुरूप है। जीव के अनेक प्रकार हैं जो शुद्ध, मुक्त तथा संसारी हैं। वल्लभाचार्य कहते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म की लीला है, जो कि ब्रह्म की एक से अनेक होने की इच्छा स्वरूप प्रकट होती है। श्रुति भी कहती है कि 'स एकाकी न रमते' अर्थात् उसे अकेले अच्छा नहीं लगा, अतः उसने सोचा 'एकोऽहम् बहुस्याम्' अर्थात् मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ तब 'तदात्मानम् स्वयम् कुरुत' अर्थात् उसने स्वयं को किया और इस प्रकार वह जीव रूप में अनेक हुआ।

शुद्धाद्वैत वेदान्त में आत्मा का स्वरूप किंचित् भिन्नता के साथ निरूपित हुआ है, जीवात्मा तुरीय है, जिसको शरीर, प्राण और इन्द्रियान्तःकरण का संघात उपलब्ध है और ये सब भगवान् की विभूतियाँ हैं।[२८] परम आत्मा आनन्दमय है जो अविकारी रहकर ही आनन्द प्रचुर रहता है, यह उसका स्वभाव है। प्राचुर्यमति प्राप्नोति (इत्यात्मा)[२९] अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है, यही जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर है। पुरुषोत्तम स्वामी ने 'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति दी है ---

"देहेन्द्रियादिकं सर्वं पयर्थमतति व्याप्नोति अधितिष्ठीति इत्यामा"

अर्थात् देहादि का अधिष्ठाता आत्मा है। इस आत्मा के तीन लक्षण हैं- १. अनादि, निर्गुण तथा प्रकृति-नियामक होते हुये 'अहं' प्रत्यय से ज्ञेय होता है; २. स्वयं प्रकाशत्व उसका स्वरूप लक्षण तथा ३. विश्वगत गुण-दोष से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

असम्बद्ध होकर भी संसर्ग रखता है (यह मुक्ति के उपर्युक्त है)। आत्मा अक्रिय है, परन्तु क्रियाभिमानवश वह कर्त्ता और कर्म बनता है।[३०] जीवात्मा विश्व सम्बन्धों में संसारी होता है, परन्तु भगवान् प्रभु हैं और मैं उनका दास हूँ, यह ममताहंता शुद्ध ज्ञान है।[३१]

अतः वल्लभाचार्य के दर्शन में जीव को अणुरूप में प्रस्तुत किया है और इसीलिये वल्लभ ने अपने ब्रह्मसूत्र का नाम भी अणुभाष्य रखा है। शुद्धाद्वैत वेदान्त में जीवात्मा की तीन अवस्थाओं को बतलाया गया है।

१. शुद्ध जीव, २. संसारी जीव, ३. मुक्त जीव [३२]

१. शुद्ध जीव : शुद्ध जीव निर्गमन के पूर्व की अवस्था है। इससे आनन्दांश का तिरोधान नहीं हुआ है। वस्तुतः यह ब्रह्म की अवस्था है। यहाँ आनन्दात्मक ऐश्वर्य आदि गुण बने रहते हैं। शुद्ध जीवों को संसारी जीवों की तरह दुःख नहीं भोगने पड़ते।

२. संसारी जीव : संसारी जीव वे होते हैं जो अविद्या के जाल में जकड़े होने के कारण जन्म और मरण का अनुभव करते हैं, क्योंकि वे स्थूल और सूक्ष्म शरीर धारण किये होते हैं। आनन्द के अंश का तिरोधान होने के कारण इनमें अविद्या का समावेश हो जाता है। उस समय 'मैं' और 'मेरे' की मिथ्या कल्पना करता हुआ जीव सांसारिक मोह माया में फँसकर अपने को दीन-हीन एवं पराधीन मानकर, अनेक दुःख भी उठाता है।

३. मुक्त जीव : जो सृंसारी जीवात्मायें हैं, उन पर जब भगवान् की कृपा होती है, तब वह भगवान् की शरण में जाता है और भगवद्कृपा से पुनः आनन्द प्राप्त करता है। अविद्या का बन्धन हर जाता है।

आत्मा और ब्रह्म में सम्बन्ध :

आत्मा शब्द यहाँ ब्रह्मवादी है। वस्तुतः जीव के लिये जो आत्मा शब्द का प्रयोग होता है वह ब्रह्म सम्बन्ध से ही होता है। अर्थात् जीव ब्रह्म का अंश है, इस सम्बन्ध से ही जीव को आत्मा कहा जाता है। 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों से जो जीव का ब्रह्मत्व ज्ञात होता है उसमें अधिकार में ही शास्त्र प्रवृत्ति होती है - इस नियम के अनुसार अपने में ही ब्रह्मावगति दिखलाई गई है।

वल्लभाचार्य के अनुसार जीव या आत्मा भगवान् की ही एक अवस्था है। सांसारिक दशा में भी जीव ब्रह्म ही है, इसलिये जीवोपक्रम औपचारिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मात्र है। ज्ञान की दशा ही मोक्ष है एवं उसके बाद कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। जीवोपक्रम भगवान् की ही अवस्था विशेष है जो जीव नाम से कही गई है।[३३]

शुद्धाद्वैतवाद में कहा गया है कि आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध अंश और अंशी का है। मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है कि --

यथा सुदिप्तात् पावकादि विस्फुलिंगाः,
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधा सौम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति ॥[३४]

अर्थात् जिस प्रकार अत्यधिक तेज अग्नि से उसी के रूप वाली अनेकों चिन्गारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से अनेकों भावं प्रकट होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। जड़, जीव और अन्तर्यामी का ब्रह्म से क्रमशः निस्सरण होता है, जिस प्रकार अग्नि से चिन्गारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार जीवात्मा का ब्रह्म से उद्‌गम मान्य है।[३५]

द्वैताद्वैतवाद में आत्मा का स्वरूप :

द्वैताद्वैतवाद के अनुसार जीव-जगत् ब्रह्म की शक्तियाँ हैं। ब्रह्म सर्व शक्तिमान है तथा ब्रह्म ही अपने को जीव-जगत् के रूप में अपने को प्रकाशित करता है। लेकिन इसके बाद भी जीव-जगत् के मध्य में ब्रह्म सीमित नहीं होता। निम्बार्क दर्शन के अनुसार - 'देहेन्द्रिय मनोबुद्धि प्राणादि जड वर्ग-भिन्न, ज्ञान स्वरूप ज्ञातृत्वादि-धर्मों का आश्रय जीव है।'[३६]

निम्बार्काचार्य ने चित्-अचित् तथा ईश्वर तीन पदार्थ माने हैं। चित् जीवात्मा है, यह ज्ञान स्वरूप तथा ज्ञानाश्रय है जैसे सूर्य प्रकाश स्वरूप है और प्रकाश का आश्रय है। वह ज्ञाता है, वह अणु परिमाण है। वह संख्या में अनन्त है। जीवात्मा का ज्ञातृत्व नित्य ही है, वैसे ही उसका कर्तृत्व नित्य है। जीव दो प्रकार के हैं - बद्ध और मुक्त। बद्ध जीव दो प्रकार के हैं -बुमुक्षु और मुमुक्षु। बुमुक्षु विषय - भोग के इच्छुक हैं। मुमुक्षु मुक्ति के इच्छुक हैं। मुमुक्षु जीव भी दो प्रकार के होते हैं - भगवद् भावापन्न तथा निज-स्वरूपापन्न। बुमुक्षु जीव भी दो प्रकार के होते हैं - भाविश्रयस्क और नित्य संसारी।

भाविश्रयस्क वे हैं जो भविष्य में आनन्द पाते हैं और नित्य संसारी वे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं जो नित्य सुख-दुःख भोगते हैं।

निम्बार्काचार्य के अनुसार आत्मा सर्वोपरी है, उसे सभी प्रकार के दोषों से रहित माना है। वह सभी प्रकार के औदार्य गुणों का आधार है तथा दिव्य शरीर ग्रहण किये हुये हैं, सौन्दर्य तथा कोमलता और माधुर्य से तथा कान्ति से पूर्ण है।[३७] जीवात्मा द्रष्टा, भोक्ता और श्रोता सभी है। यह अपने ज्ञान, कर्म, मोक्ष तथा बन्धन सबके निमित्त 'ईश्वर' पर निर्भर है।

आत्मा तथा ब्रह्म का सम्बन्ध :

मनुष्य के अनुभवों की सत्ता तथा उनका क्रम भगवान् द्वारा नियमित है, उसी के अन्तर्गत है। जीव इस प्रकार एक दृष्टि से ब्रह्म से भिन्न है तथा दूसरी दृष्टि से उसके अंश मात्र हैं। निम्बार्क प्रणाली को एक प्रकार का भेदाभेद वाद या द्वैताद्वैतवाद माना गया है। किन्तु यहाँ बल केवल एकत्व पर ही नहीं दिया गया है, बल्कि भिन्नता या भेद पर भी दिया गया है। जैसे कि अंश पूर्ण से भिन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार जीव भी कभी ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता। किन्तु बन्धन की अवस्था में जीव ईश्वर से इस एकता को भूल सकते हैं और स्वयं को कर्म और अनुभव में स्वतन्त्र लगते हैं। जब प्रेम से त्याग उत्पन्न होता है तब जीव जो स्वयं ब्रह्म से पूर्णतया नियंत्रित और नियमित है तथा वह उसका अंश है, ऐसा अनुभव करता है, जीव की जब मुक्त अवस्था होती है, तो वह अपने को भगवान् से एकरूप अनुभव करता है। और वह उसकी शक्ति अंशरूप में वास करती है।[३८] अंश होने के कारण वह ब्रह्म से भिन्न अभिन्न दोनों है। इस प्रकार भेदाभेदवादी जीवात्मा एवं ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध मानते हैं।

द्वैताद्वैतवाद के अनुसार परमात्मा आनन्दमय है तथा जीव आनन्द हेतु है। परमात्मा भूमा है। अमृत और निरतिशय सुखरूप है तथा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रहता है। अतः परम ज्ञेय तत्त्व है - भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य। परमात्मा निर्लेप है, भोक्ता नहीं,किन्तु जीवात्मा भोक्ता है।

निम्बार्क कहते हैं कि ये सभी जीवात्माएँ अंशी परमात्मा के अंश हैं, ये अंश परमात्मा से भिन्न हैं। जीव और ब्रह्म का अभेद भी कहा गया है। इसलिये भेदाभेद रूप से अंशत्व का ही प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् दोनों में अत्यन्त भिन्नता अभिन्नता नहीं है।[३९]

अतः वेदान्त दर्शक के अनुसार मनुष्य का सच्चा लक्ष्य उस आत्मा को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जानना है जिसका न आदि, न अन्त है और जो आत्मा है जिसे हम नहीं जानते। उसी प्रकार मनुष्य का सच्चा लक्ष्य परमात्मा को जानना या परमात्मा को प्राप्त करना है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि --

"पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"

अर्थात् आत्मा पूर्ण है और ब्रह्म भी पूर्ण है, ब्रह्म की पूर्णता से आत्मा की पूर्णता निकालने पर जो कुछ बचता है वह पूर्ण है। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

शंकर का मत है कि चैतन्य स्वयं प्रकाश है, वह कदापि अन्य चैतन्य का विषय नहीं बनता, किसी अन्य ज्ञान से उसका ग्रहण नहीं होता। जिस प्रकार ज्योति को प्रकट करने के लिये ज्योति की आवश्यकता नहीं होती। रामानुज इस मत का खण्डन करते हैं, जब आत्मा किसी वस्तु को प्रकाशित करती है तब उसका चैतन्य स्वयं प्रकाश कहलाता है। लेकिन आत्मा स्वयं अपने पिछले चैतन्य को विषय बनाकर तथा दूसरे चैतन्य को भी विषय बनाकर ग्रहण करता है। रामानुज की जीवात्मा एक शाश्वत् रूप में रहने वाली सत्ता है और वह नित्य है, किन्तु शंकर का मत है कि शाश्वत रूप में रहने वाली सत्ता केवल आत्मा ही है।

अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' आदि वाक्य आचार्य मध्व की अद्भुत कल्पना के अनुसार द्वैत सिद्धान्त के ही समर्थक हैं। 'मध्व' तत्त्वमसि से 'जीव एव ब्रह्म' के ऐक्य को स्वीकार न करके यह अर्थ लगाते हैं कि जीवात्मा एवं परमात्मा की मूलभूत विशेषताओं में साम्य है। मध्व ने 'अयमात्मा ब्रह्म' के अर्थ में कहा है कि यह जीवात्मा वर्धनशील है कि जो व्याप्त है वह ब्रह्म है। 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वाक्य भी मध्व की दृष्टि में क्रमशः ब्रह्म की अद्वितीयता एवं व्यापकता के द्योतक हैं, न कि जगत् और ब्रह्म के अभेद के द्योतक।

वल्लभदर्शन का जीव सम्बन्धी मत सबसे अधिक शंकर के मत से विरोध रखता है। शंकर की तरह वल्लभ यह नहीं मानते कि जीव ब्रह्म ही है, क्योंकि यहाँ जीव केवल अंशी ब्रह्म का अंश मात्र है। जीव और ब्रह्म में यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अन्तर है कि जीव की शक्ति अपनी सत्ता के अनुसार सीमित है, जबकि ब्रह्म की शक्तियाँ असीम और अनन्त हैं।

निम्बार्क के अनुसार 'तत्त्वमसि' द्वारा जीव ब्रह्म में एकान्त अभेद की सिद्धि नहीं होती, किन्तु जीव ब्रह्माधीन एवं ब्रह्म आश्रित है। इस अर्थ में जीव ब्रह्माभिन्न कहा गया है, न कि एकत्व सिद्धि के लिये। संसार में अविद्या से ग्रसित अनेक जीवात्मायें हैं। यह शंकर एवं निम्बार्क दोनों को ही मान्य हैं। शंकर के अनुसार अविद्या से जीव का स्वरूप आवृत होता है। निम्बार्क के अनुसार गुण आवृत होता है।

डॉ. कु. कविता शुक्ला
ए- १६, न्यू कॉलोनी,
छतरपुर (म. प्र.)
पिन - ४७१००१

टिप्पणियाँ

१. **सिद्धान्त लेश संग्रह**, पृ. ८२
२. **विवेक चूड़ामणि**, शंकराचार्य - १२७.
३. **माण्डूक्य कारिका शांकरभाष्य** - ४.६०.६२
४. **बृहदारण्यकोपनिषद्**
५. **ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य** - २/३/७.
६. **क. उप. भा.** - २/१८.
७. **श्रीमद् भगवद्गीता** - डॉ. राधाकृष्णन् में वर्णित के आधार पर, पृ. ४९.
८. **केन. शांकरभाष्य** - २.४
९. **ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य** (चतुःसूत्री) श्री रमाकान्त त्रिपाठी, पृ. ७२.
१०. **बृहदारण्यकोपनिषद्** - २/५/१९.
११. **वही** - १/४/१०
१२. **छान्दोग्योपनिषद्** - ६/८/८ -१६.
१३. **मुण्डक.** - ३/२/९.
१४. डॉ. राधाकृष्णन् : **भारतीय दर्शन**, पृ. ६९२.
१५. डॉ. राधाकृष्णन् : **उपनिषद् की भूमिका**, पृ. ७४.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१६. ज्ञातृत्वमेव जीवात्मा स्वरूपम् - श्रीभाष्य - २/३/३.
१७. श्रीभाष्य - २/३/४५.
१८. तत्त्वत्रय, पृ. ४८; यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. १०७.
१९. तत्त्वमुक्ता कलाप - २/२७-२८.
२०. तत्त्वमुक्ता कलाप - २/२७-२८.
२१. मु. उप. - ३/३/१.
२२. श्रीभाष्य - १/१/१/.
२३. रा. भा. गीता - २-५९ (आत्मस्वरूप विषयेभ्य पर सुखतर)
२४. तत्त्वप्रकाशिक, पृ. ११९.
२५. डॉ. के. नारायण : एन आउट लाइन ऑफ मध्व फिलासफी, पृ. १४६.
२६. ब्रह्मसूत्र मध्वभाष्य, पृ. ८३
२७. वादिराजतीर्थ, पृ. २६.
२८. अणुभाष्य - १/१/१.
२९. वही. - १/१/१२.
३०. सुबोधिनी - १०/४/२२.
३१. वादावलि, पृ. २५.
३२. डॉ. लक्ष्मी शंकर निगम, श्रीमती शोभा निगम : श्रीमद् वल्लभाचार्य उनका शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग, पृ. ४३.
३३. श्री. वल्लभ-वेदान्त (अणुभाष्य) से जगद्गुरु श्री. वल्लभाचार्य, पृ. २३२.
३४. मुण्डक उपनिषद् २.१.१.
३५. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड - ९
३६. परपक्ष गिरीवज्र, पृ. ७५५, कलकत्ता संस्करण।
३७. दशश्लोकी - ४.
३८. परपक्ष गिरिवज्र पृ. ५९
३९. श्री. मध्व : ब्रह्मसूत्र - २/३/४२.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रद्धाञ्जलि

परामर्श (हिन्दी) के परिवार से जुडे और दार्शनिक चिंतन की गतिविधियों में प्रतिष्ठाप्राप्त चिन्तनशील व्यक्तिमत्व के प्राध्यापक डॉ. आर. सुंदरराजन के अनपेक्षित एवं अकाल निधन से पत्रिका का परिवार शोक-संतप्त अवस्था में उन की स्मृति में अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

परामर्श (हिन्दी) के परिवार से जुडे एक और मनीषी, अमलनेर निवासी, दर्शन के प्राध्यापक एवं दार्शनिक-चिंतन व्यापार में अपनी विशेषता से ज्ञात डॉ. भा. ज. कविमंडन के अकाल तथा अनपेक्षित निधन से शोकाकुल हुआ पत्रिका का परिवार उन की स्मृति में अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

– प्रधान संपादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मीमांसा का नैतिक तथा सामाजिक अवदान

मानव जीवन के सर्वाङ्गीण विकास-हेतु प्रतिपादित वे नियम जिनसे सम्पूर्ण समाज सुव्यवस्था, शान्ति तथा विकास को प्राप्त कर सके, उन नियमों तथा सिद्धान्तों को ही सामाजिक दर्शन के सिद्धान्त कहा जा सकता है। उन व्यक्तिपरक सिद्धान्तों को जिनसे सारा समाज तथा राष्ट्र प्रभावित हो, उन्हें नैतिक सिद्धान्तों की अभिधा से भी मण्डित किया जा सकता है। इन समाज, राष्ट्र तथा समष्टि को प्रभावित करने वाले नियमों के अनुरूप आचरण का नाम ही नीति है। मानव के आदर्शभूत व्यवहार का अनुसन्धान ही नीतिशास्त्र का प्रयोजन है।[१] मानव जीवन में सदाचार, करूणा, परोपकार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता आदि के व्यवहार को जीवन का आदर्श माना गया है। मानव तथा सम्पूर्ण मानव समाज की स्थिति का अवलम्बन होने से इन्हें धर्म शब्द से भी अभिहित किया गया है।[२]

भारतीय दर्शन की आस्तिक तथा नास्तिक उभयविध विचारधाराओं में नास्तिकों में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन के अनेक सिद्धान्त नैतिक आदर्शों पर आधारित आचरण की ओर व्यक्ति तथा समाज को प्रेरित करते रहे हैं। इसी प्रकार सांख्य एवं योग की अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि के आचरण की शिक्षा विशुद्ध नैतिक आदर्शवाद पर टिकी हुई है।[३] ब्रह्मसूत्रों पर अपने शाङ्करभाष्य में भगवत्पाद जगद्गुरु शङ्कराचार्य ने 'वेद आचारहीन को पवित्र नहीं करते'[४] इस उक्ति को उद्धृत कर नैतिक आदर्शों के अवलम्बन को धर्म की नींव के रूप में स्थापित कर दिया है।

मीमांसा का नैतिक अवदान-

महर्षि जैमिनि द्वारा प्रवर्तित मीमांसा शास्त्र वैदिक वाक्यों के विश्लेषण से न केवल कर्मकाण्ड की गुत्थियों को सुलझाकर उनकी सङ्गति प्रदान करता है, अपितु अपने द्वारा प्रवर्तित न्यायों तथा तर्कों के आधार पर व्यक्ति तथा समाज से सम्बद्ध नैतिक प्रश्नों के समाधान की दिशा भी प्रदर्शित करता है।

भाष्यकार शबरस्वामी ने यद्यपि यज्ञीय कर्मकाण्ड के आचरण को ही धर्म माना है, तथापि तडागादि के निर्माणादि कार्य, जिनसे व्यक्ति तथा समाज का हित होता हो, उनकी भी समीचीनता स्वीकार की है।[५]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यज्ञ का नैतिक पक्ष -

यद्यपि मीमांसा का प्रधान लक्ष्य यागरूप धर्म का प्रतिपादन है[६] तथापि इस यज्ञानुष्ठान के लक्ष्य को व्यक्तिगत नैतिकता से पृथक् नहीं रखा गया है, अपितु नैतिक शुद्धता इस धर्मानुष्ठान का अनिवार्य अङ्ग है। मीमांसा के इस प्रधान प्रतिपाद्य 'याग' का अर्थ है त्याग। 'देवता के उद्देश्य से हवि के त्याग को ही याग कहा गया है।[७] जीवन में कर्तव्य भावना से बिना किसी फलाकाङ्क्षा के त्याग को प्रतिष्ठित करना ही भर्तृमित्रादि प्राचीन मीमांसकों ने याग का उद्देश्य प्रतिपादित किया है।[८] भगवद्गीता में इसे ही सात्त्विक याग की मान्यता प्रदान की गई है।[९] कहीं कहीं 'अग्निषामीयं पशुमालभेत' [१०] जैसे वाक्यों द्वारा विहित हिंसा से सामान्य अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त की उपेक्षा प्रतीत होती है, परन्तु ऐसे नियमों को केवल अपवाद के रूप में स्वीकार किया गया है। जैमिनि सूत्र के अनुसार मांस का पाक निषिद्ध है।[११] महाभारत में यहाँ तक कहा गया है कि - 'सुरा, मद्य, मछली, पशुओं का मांस तथा यज्ञ में द्विजाति आदि मनुष्यों का बलिदान धूर्तों द्वारा प्रवर्तित हुआ है। वेदों में मांस का विधान नहीं है।[१२] वास्तविकता कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर्व सामान्य अवस्था में मीमांसा 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'[१३] इस वाक्य के आधार पर अहिंसा के नैतिक नियम का ही समर्थन करती है।

अहिंसा के प्रतिपादनार्थ धर्मलक्षण में अर्थशब्द का संयोजन -

मीमांसा की दृष्टि में अविहित हिंसा अनर्थ का ही साधन है। इसी दृष्टिकोण को आचार्य जैमिनि ने अपने धर्मलक्षण के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। जैमिनि के अनुसार विधि द्वारा विहित जो (कर्म) अर्थरूप हों, उन्हें धर्म माना गया है।[१४] इसलिए शत्रुमारणरूपी हिंसा के माध्यम से अनर्थभूत 'श्येन याग'[१५] विधिविहित होने पर भी धर्म की परिधि में समाविष्ट नहीं हो पाया है।

द्रव्यार्जन के नियम द्वारा नैतिक जीवन का प्रतिपादन -

धर्मशास्त्र द्वारा ब्राह्मणादि वर्णों के लिए द्रव्यार्जन के नियम सुनिश्चित किये गये हैं। ब्राह्मण के लिए अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह, ये तीन अर्थार्जन के साधन बतलाये गये हैं।[१६]

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि द्रव्यार्जन हेतु प्रतिपादित इन नियमों का समन्वय यज्ञ में माना जाय या व्यक्ति में ? द्रव्यार्जन के इन नियमों को क्रत्वर्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानने पर अर्थात् इनका समन्वय यज्ञ के साथ करने पर धर्म तथा नीति-पूर्वक अर्जित धन से धर्माचरण करने तथा उत्कोच, तस्करी आदि अनैतिक साधनों से अर्जित धन से सुख-सुविधामय जीवनयापन करने लगने पर भी ऐसे व्यक्ति में धर्म की स्थिति अबाधित माननी होगी, परन्तु मीमांसा इसे अनैतिक आचरण मानती है, अतः इसके निराकरणार्थ द्रव्यार्जन के नियमों को क्रत्वर्थ के स्थान पर पुरुषार्थ मानती है तथा धर्माभिलाषी के लिए सम्पूर्ण जीवन में नैतिक आचरण की अनिवार्यता का प्रतिपादन करती है।

इस सन्दर्भ में मीमांसा-सम्मत निर्णय यह है कि द्रव्यार्जन का समन्वय याग से करने पर समस्त द्रव्य याग के लिए ही होगा, फलतः व्यक्ति के साथ उसका समन्वय नहीं हो सकेगा तथा ऐसी स्थिति में द्रव्याभाव में यजमान का जब जीवन ही नहीं रहेगा, तब यज्ञ भी कैसे हो सकेंगे ? इन्हें पुरुषार्थ मानने पर जैसे द्रव्य से सांसारिक सुख सिद्ध होते हैं, वैसे ही यज्ञ के माध्यम से पारलौकिक सुखों की सिद्धि मानने में भी कोई अनौचित्य नहीं होगा। इसके अतिरिक्त क्रतु भी पुरुष के लिए होने से एक पुरुषार्थ है, अतः द्रव्यार्जन के नियमों को पुरुषार्थ मानने पर भी इनका क्रतु के साथ एक परम्परा-सम्बन्ध बन ही जाएगा [१७], अतः इन नियमों को पुरुष के साथ समन्वित मानकर मीमांसा ने जीवन में कदाचरण रहित नैतिक आचरण का प्रतिपादन किया है।

जीवन में नैतिकता की स्थापना हेतु सदाचार का प्रामाण्य -

जीवन में नैतिक आदर्शों की स्थापना हेतु महर्षि जैमिनि ने 'अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीरयेत्'[१८] इस सूत्र द्वारा धर्मज्ञान में आचार या सदाचार का प्रामाण्य प्रतिपादित किया है। स्मृतिकार मनु ने भी वेद, स्मृति, शील, आचार तथा शिष्टजनों की आत्मतुष्टि को धर्म-ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण साधन निरूपित किया है।[१९] मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने नैतिकेता को ही मनु द्वारा प्रतिपादित 'शील' शब्द के अर्थ के रूप में 'शीलं ब्रह्मण्यतादिकम्' कहकर प्रकाशित किया है।[२०]

सूत्र तथा भाष्यार्थ को अनेक युक्तियों द्वारा स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने वाले मीमांसा दर्शन के आधार स्तम्भ आचार्य कुमारिल भट्ट ने जीवन में नैतिक आदर्शों के महत्त्व को प्रकाशित करने के उद्देश्य से अपने 'तन्त्रवार्त्तिक के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में 'स्मृत्याचार प्रामाण्याधिकरण' की रचना की है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिष्ट, सज्जनों के आचरण का ही नाम सदाचार होने के कारण शिष्ट के रूप में प्रसिद्ध विशिष्ट व्यक्ति प्रजापति, इन्द्रादि के आचरण पर परस्त्रीगमनादि के आरोप लगाकार शिष्टव्यवहार की नैतिकता पर जब पूर्व पक्ष ने प्रश्नचिन्ह लगा दिया तब 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः' इस न्याय से जन-सामान्य में अनैतिक आचरण की प्रवृत्ति को रोकने तथा नैतिक सदाचार का दृढ़तापूर्वक समर्थन करने के उद्देश्य से ही भट्टपाद ने उक्त सन्दर्भों की प्रकारान्तर से व्याख्या प्रस्तुत की है। यथा -

'प्रजापति अपनी पुत्री पर ही आसक्त हो गये थे'। इस प्रसङ्ग का व्याख्यान करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'प्रजा का पालन करने के कारण प्रजापति है सूर्य, यह सूर्य प्रातः उषा को लाता है, अतः उषा को इसकी पुत्री कहा गया है। उषा के पश्चात् आने वाले सूर्य की किरणें उषा पर पड़ती है[२१] इसी तथ्य को स्त्री-पुरुष के प्रेम के प्रतीक से समझाया गया है।

इन्द्र को जो अहल्या का जार कहा जाता है उसका अर्थ भी यही है कि 'परम ऐश्वर्यबोधक' 'इदि' धातु से (इदि परमेश्वर्ये) निष्पन्न 'इन्द्र' शब्द का अर्थ भी सूर्य है। 'अहनि लीयते इति' इस व्युत्पत्ति से अहल्या शब्द का अर्थ है - 'रात्रि'। 'जरति इति जारः' इस व्युत्पत्ति से जार शब्द का अर्थ है 'विनाशक', अतः सूर्य रात्रि का विनाशक है, यही अहल्या जार शब्द का अर्थ है।[२२]

इस प्रकार शिष्टाचरणों पर प्राप्त अनुपपत्तियों के निवारणार्थ की गई अनेक युक्ति-कल्पनाएँ जीवन में सदाचार तथा नैतिकता के महत्त्व के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट की भावना को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर देती हैं।

मीमांसा का सामाजिक अवदान -

व्यक्ति के पारलौकिक सुख के साधनभूत 'यज्ञ' के कर्मकाण्ड की विवेचना के साथ ही मीमांसा ने अपने न्यायों के माध्यम से समाज के साथ सम्बद्ध अनेक नैतिक प्रश्नों के समाधान की दिशा प्रदर्शित कर सामाजिक धरातल पर भी अपनी विशिष्ट उपयोगिता सिद्ध कर दी है। सामाजिक दृष्टिकोण से विचार करने पर विशेषतः समाज के कमजोर वर्ग के प्रति मीमांसा का दृष्टिकोण अत्यन्त उदारता से परिपूर्ण परिलक्षित होता है। महिलाओं तथा चतुर्थ वर्ण में समाविष्ट शूद्रों से सम्बद्ध प्रकरणों में मीमांसा के न्याय धर्मशास्त्र की तुलना में अत्यन्त उदारता तथा सहृदयता का परिचय देते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

महिलाओं के लिए यागाधिकार -

मीमांसा ने नारी को यागाधिकार देकर भी अपने सर्वमङ्गलकारी स्वरूप को अभिव्यक्त किया है। धर्मशास्त्रों में स्त्री तथा शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का निषेध होने से [२३] यागाधिकार भी निषिद्ध है। मीमांसा ने इस सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए पति के साथ पत्नी के यागाधिकार को स्वीकार कर लिया है।[२४] यज्ञ के सम्पादनार्थ वेदज्ञान, आधानसिद्ध अग्नि तथा सामर्थ्य ये तीनों अनिवार्य हैं। यद्यपि पत्नी को वेदज्ञान नहीं है, तथापि पति के ज्ञान से क्रतु का अनुष्ठान सिद्ध हो जाने से पत्नी का भी ज्ञान मान लिया गया है।[२५]

सम्पत्ति का अधिकार -

याज्ञवल्क्य आदि महिला को स्वतंत्र नहीं मानते [२६] अतः उस पर पति के पूर्ण स्वत्व का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु सूत्रकार जैमिनि पत्नी को पति की सम्पत्ति नहीं मानते। उनका स्पष्ट प्रतिपादन है कि विश्वजित् याग में यजमान अपने सर्वस्व का दान करता है, परन्तु पत्नी तथा पुत्रादि का दान नहीं कर सकता। पत्नी पर पति का स्वत्व जैमिनि को मान्य नहीं है।[२७] इसी प्रकार धर्मशास्त्रकार मनु ने स्त्रियों के लिए निजी सम्पत्ति का विरोध किया है [२८] परन्तु जैमिनि ने स्त्रियों के लिए भी उनकी अपनी सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता प्रदान की है।[२९] तात्कालिक समाज में प्रचलित महिलाओं के क्रय विक्रय पर भी जैमिनि ने विरोध प्रकट किया है।[३०]

शूद्रों के लिए भी यागाधिकार का प्रतिपादन -

यद्यपि शूद्रों के लिए वेदाध्ययन तथा आधानसिद्ध अग्नि विहित नहीं है, तथापि 'वर्षासुरथकारोऽग्नीनादधीते' [३१] तथा 'निषादस्थपति याजयेत्' [३२] जैसे वाक्यों के आधार पर प्राचीन मीमांसक बादरि ने शूद्रों का यज्ञकर्म में अधिकार स्वीकार किया है।[३३] जैमिनि ने निषाद कुल-प्रसूत राजा (निषादस्थपति) को रौद्रयाग में अधिकार प्रदान किया है।[३४] सूत्रकार के अनुरूप बोधायन ने भी रथकार जाति के शूद्र का अग्न्याधान तक यागाधिकार स्वीकार किया है।[३५] अग्न्याधान का अर्थ है अग्नि का संस्कार। आधार से संस्कृत अग्नि आगे की याग-क्रियाकलाप में उपयोगी होती है, परन्तु उक्त रथकार तथा निषादस्थापित का वेदाध्ययन में अधिकार न होने से अग्न्याधान के बाद में होने वाली याज्ञिक क्रियाओं में उसे अधिकार नहीं दिया गया है।

यद्यपि अग्न्याधान के पश्चाद्वर्ती क्रियाओं में इनका अधिकार नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

है, तथापि इनके लिए विहित अग्न्याधान को भी निरर्थक नहीं माना गया है। मीमांसा का इस सन्दर्भ में यह प्रतिपादन है कि यह अग्न्याधान स्वयं एक प्रधान कर्म है, फलतः केवल इसके करने मात्र से भी रथकारादि को स्वर्गरूप फल की निष्पत्ति हो जाती है।[३६]

भूमि पर कृषक के अधिकार का प्रतिपाद-

महिलाओं तथा अन्त्यजों के साथ ही मीमांसा का कृषक वर्ग के प्रति भी उदारवादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। तात्कालिक सामन्तवादी परिस्थितियों में भी मीमांसा भूमि पर राजा के निरङ्कुश आधिपत्य को स्वीकार नहीं करती। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति विक्रय कर सकता है, दान या पुरस्कार में किसी को भी दे सकता है, उस प्रकार भूमि का विक्रय करने, उसे दान या पुरस्कार में किसी को देने के राजा के अधिकार को जैमिनि मान्य नहीं करते।[३७] व्यवहार-मयुखकार का भी कहना है कि राजा को केवल प्रजा से कर लेने का अधिकार है।[३८] मीमांसा के सूत्र ६.७.२[३९] के आधार पर इन्होने भी भूमि पर किसान के ही अधिकार पर प्रतिपादन किया है।[४०]

लौकिक व्यवहार में म्लेच्छाचार का भी प्रामाण्य-

समाज के सभी वर्गों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण होने के कारण मीमांसा दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य कुमारिल भट्ट ने लौकिक सदाचार के विषय में म्लेच्छव्यवहार के भी प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि 'यद्यपि अदृष्टार्थक क्रियाओं में म्लेच्छाचार दुर्बल कहा जाता है, तथापि लौकिक व्यवहार में शिष्ट तथा म्लेच्छ, आर्यों से अधिक निपुण है, अतः इन विषयों मे म्लेच्छाचार का प्रामाण्य अधिक मानना सर्वथा उपयुक्त है।[४१]

उक्त विवेचित समस्त प्रसङ्गों की विवेचना के आधार पर यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसा केवल वैदिक वाक्यों का विश्लेषण ही नहीं करती, अपितु तर्कों तथा सिद्धान्तों के आधार पर समाज में नैतिकता, सदाचार तथा समानता के सिद्धान्तों को स्थापित करती है। शताब्दियों पूर्व विद्यमान मीमांसा का दृष्टिकोण पक्षपात रहित, उदार, बहुजनहिताय, समाजवादी होने के साथ वर्तमान परिवेश में भी पूर्णरूप से प्रासङ्गिक है।

सोमनाथ नेने
उपाचार्य संस्कृत अध्ययनशाला,
विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. **पाश्चात्यं नीतिशास्त्रम्**, पृ. २ पङ्क्ति २४, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय १९६३

२. "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ **मनुस्मृति** २.९२

३. "अहिंसासत्यमास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः" **पातञ्जल योगसूत्र** २.३०

४. "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" **ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य** ३.१.१०.

५. "प्रपातस्तडागादीनि च परोपकाराय, न धर्माय।" **शाबरभाष्य** १.३.२

६. धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।" **श्लोक वार्त्तिक**, प्र. सू. वा. १

७. "देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागस्य यागशब्दार्थत्वात्" **मीमांसा परिभाषा** पृ. ८८, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९८७

८. भर्तृमित्र शबर के पश्चात् तथा कुमारिल के पूर्ववर्ती विद्वान हैं। इन्होने नित्य निषिद्ध कर्मों का कोई फल नहीं है, यह विचार स्थापित किया है। द्रष्टव्य **श्लो. वा.** प्रास्ताविकम् १३, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी १९७८

९. अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेतिमनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ **भगवद्गीता**, अ.१७ श्लो.११

१०. **तै. सं.** ६.१.११

११. मांसपाकप्रतिषेधः, **जैमिनिसूत्र** १२,२,२

१२. "सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु कथ्यते ॥ **महाभारत** शान्तिपर्व, उद्धृत पातञ्जलयोगप्रदीप, पृ. ९, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०५१

१३. **सांख्यतत्त्वकौमुदी**, पृ. २५, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, १९८४

१४. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः **जैमिनि सूत्र** १.१.२

१५. "श्येनेनाभिचरन् यजेत" **आप. श्रौ.** २२.४.१३.

१६. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

दानं प्रतिग्रहश्चैषट्कर्माण्यग्राजन्मनः ॥ मनुस्मृति १०, ७५
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ मनुस्मृति, १०.७६.

१७. "किञ्च क्रत्वर्थत्वे जीवनाभावात्क्रतुरेव ने सिद्धयेत् पुरुषार्थत्वे तु ऐहिकप्रीतिकारिभोजनादिवत् क्रतोरामुष्मिकप्रीतिकारितया पुरुषार्थेष्वन्तर्भावात्क्रत्वर्थत्वमप्यार्थिकं सिध्यति । उपायनियमस्तु उपायान्तरेषु प्रत्यवायविवक्षयोपपद्यत इतिद्रव्यार्जनं पुरुषार्थम्" भाट्टचिन्तामणि, तर्कपाद, पृ. ०३ पं. सूर्यनारायण शुक्ल कृत टिप्पणी, पृ. ०३ पङ्क्ति २५, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, १९३३

१८. "अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीरयेत्" जैमिनि १.३.७.

१९. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशील चे तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ मनुस्मृति, २.६

२०. मन्वर्थमुक्तावली, मनुस्मृति २.०६

२१. प्रजापतिस्तावत्..... दुपचारः । तन्त्रवार्त्तिक, पृ. २०० पङ्क्ति १०-१२, अजितासहित, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठम्, प्रयाग, १९८८

२२. एवं समस्त तेजाः..... न तु परस्त्री व्यभिचारात् ।" वही, पृ. २००-२०१

२३. "न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम्"
उद्धृत मीमांसा न्यायप्रकाश की हिन्दी व्याख्या, पृ. १८७, श्रीलाल बहादुर शास्त्रि केन्द्रीय-संस्कृत विद्यापीठम्, नई दिल्ली १९८३

२४. "जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्" जैमिनि सूत्र ६.१.८

२५. सहाधिकारत्वे च यजमानविद्ययैव पत्न्या अपि कार्यसिद्धेर्न ज्ञानं विना तस्या अधिकारानुपपत्तिः ।" मी. न्या. प्रकाश, पृ. १८८

२६. "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" मनुस्मृति ९.०३

२७. "विश्वजिता यजेत" उद्धृत मी. न्या. प्र., पृ. १०३

२८. "स्वदाने सर्वमविशेषात्" जैमिनि सूत्र ६.७.१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२९. ''स्त्रीपुत्रभृत्यानां स्वस्वामिकं न किमपि धनं भवति।'', **मनुस्मृति** अ. ८, श्लो. सं. ४१६

३०. ''स्ववत्तामपि दर्शयति'' **जैमिनि सूत्र** ६.१.१६

३१. द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्याम् अद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात्'' **जैमिनि सूत्र** ६.१.१०

३२. वर्षासुरथकारोऽग्नीनादधीते'' **आप. श्री.** ५.३.१९

३३. **पू. मी.** ६.१.१३ ''निषादस्थपत्यधिकरणे'' वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेत् इति प्रकृत्य श्रूयते'' एतया निषादस्थपतिं याजयेत्'' इति।

३४. निमित्तार्थेन बादरिः, तस्मात् सर्वाधिकारः स्यात्'' **जैमिनि सूत्र** ६.१.२७

३५. स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्'' **जैमिनि सूत्र** ६.१.५१

३६. **बोधायन धर्मसूत्र** १.९.०६

३७. किंतु तदाधानं लौकिकाग्निगुणकं विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गफलकञ्च स्वतन्त्रमेव प्रधानकर्म विधीयते ''। **मी. न्या. प्र.** पृ. १८६

३८. न भूमिः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्'' जैमिनि सूत्र ६.७.३

३९. सम्पूर्णपृथ्वीमण्डलस्य तत्तद्ग्रामक्षेत्रादौ स्वत्वं तु तत्तद् भौमिकादीनामेव राज्ञो तु करग्रहणमात्रम्'' **व्यवहार मयुख** पृ. ५६-५७, गुजरात, प्रिन्टिंग प्रेस १९२३

४०. यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याऽशक्यत्वात्'' **जैमिनि सूत्र** ६.७.०२

४१. सन्दर्भ ३९, द्रष्टव्य

४२. ''आश्रयाणां च दौर्बल्यं धर्मं प्रति निरूपितम्।
दृष्टार्थव्यवहारेषु कृष्यादाविव तुल्यताम्॥
तस्माद्यथैव सैवादौ गृहादिषु च कौशलम्।
म्लेच्छानामधिकं तद्वदभिधेयार्थनिर्णये॥
तन्त्रवार्तिक २३४ अजिता, प्रथम भाग, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, प्रयाग १९८८.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एकअंक के लिए रु.	चार अंको के लिए रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ.३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ.४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था /प्रकाशन/ उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें-

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तंत्र का स्वरूप एवं प्रयोजन : काश्मीर शैवदर्शन के परिप्रेक्ष्य में

'त्रिक' दर्शन या 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन, जिसे काश्मीर शैव दर्शन भी कहा जाता है। तन्त्र-परम्परा का प्रधान दर्शन है। तन्त्रों के विषय में अनेक भ्रांतियाँ हैं, ऐसा विश्वास किया जाता है कि तन्त्रों का मुख्य प्रयोग भूत-प्रेत आदि आत्माओं को बुलाने के लिए अथवा रहस्यात्मक शक्तियों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। लेकिन यह तन्त्रों के विषय में सतही दृष्टि है। तंत्र का शाब्दिक अर्थ है व्यवस्था। तांत्रिक दर्शन जीवन तथा परमतत्त्व के विषय में एक विशेष दृष्टि का प्रतिपादन करता है। तंत्रों में नैतिकता (धर्म) के साथ अर्थ एवं काम आदि मूल्यों को समन्वय करने का प्रयास किया गया है। तंत्र काश्मीर शैव दर्शन के स्रोत हैं, किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिक तंत्रों के साथ-साथ वेदों को भी मान्यता प्रदान करते हैं, क्योंकि वे तन्त्र को बेद का पूरक मानते हैं; जो बात वेद में बीज रूप में कही गयी है, उसे तन्त्र पूर्ण रूप से प्रकाशित करते हैं। उदाहरण के लिए क्रिया का सिद्धान्त वेदों में भी मूल रूप से है, किन्तु उसे तंत्र ही व्याख्यापित करता है।

तंत्र दर्शन के अनेक सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय हैं, जिन्हें मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, शैव-शक्ति तंत्र; द्वितीय, बौद्ध तंत्र और तृतीय, वैष्णव तंत्र।

बौद्ध परम्परा में ज़ो तंत्र का प्रादुर्भाव हुआ उसके विषय में एक प्रश्न विचारणीय है। बुद्ध की शिक्षा का सार सांसारिक मूल्यों का परित्याग था, यहाँ तक कि इन्होंने ज्योतिष इत्यादि के अध्ययन को भी मना किया था। लेकिन महायान के उत्तर भाग में वज्रयान सम्प्रदाय में जिस प्रकार काम इत्यादि पंचमकारों की मान्यता दी गयी है, वह भगवान बुद्ध के मूलदेशना के अनुकूल नहीं प्रतीत होता है। बौद्ध दर्शन में वज्रयान के रूप में जो तांत्रिक साधना का प्रवेश हुआ उसकी दो व्याख्याएँ की जा सकती हैं। एक तो यह कि बुद्ध के अतिमार्गी त्यागपरक जीवन दर्शन की प्रतिक्रिया स्वरूप एवं अतिवादी त्याग दर्शन को संतुलित करने के हेतु वज्रयान आया। दूसरी व्याख्या यह हो सकती है कि बुद्ध ने अधिकारी भेद से शिक्षा दी। वज्रयान की शिक्षा काफी उच्च विकसित अधिकारी के लिए है। अतः सामान्यजन के लिए उसे नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बताया । स्वयं वज्रयान परम्परा वालों को भी यही मान्यता है ।

सभी तंत्रों में चेतना की कल्पना द्विविध रूपों में की गयी है - ज्ञान (प्रकाश) और स्वातंत्र्य (शक्ति या विमर्श) । प्रकाश का प्रतीक पुरुष है, तथा स्वातंत्र्य अथवा क्रिया का प्रतीक स्त्री है या शक्ति है जिसे विभिन्न तांत्रिक सम्प्रदायों के अनुसार पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं । तंत्र के महत्त्व को हम विशेष रूप से तब समझ सकते हैं जब उसे हम सांख्य परम्परा के साथ रखकर विचार करें । भारतवर्ष में प्राचीन काल से हीं दर्शन एवं अध्यात्मिक साधना सम्बन्धी दो परम्परायें रही हैं - एक सांख्य परम्परा जो निवृत्तिपरक (निषेधात्मक) है । दूसरी तंत्र परम्परा प्रवृत्तिपरक (सकारात्मक) है । सांख्य परम्परा में पातंजल योग, अद्वैत वेदान्त, जैन एवं बौद्ध दर्शन आयेंगे । अद्वैत वेदान्त एवं सांख्य दर्शन के अनुसार परमतत्त्व चैतन्य का स्वरूप निर्दिष्ट है । चैतन्य तत्त्व (जिसे ब्रह्म, पुरुष, शिव, आत्मा आदि शब्दों से प्रकाशित किया गया है) केवल ज्ञान रूप है क्रिया रूप नहीं है । वह केवल प्रकाश है, विमर्श नहीं है; केवल शिव है, शक्ति नहीं है । किन्तु तांत्रिक दर्शन में परमतत्त्व चैतन्य शक्ति रूप है, उसमें ज्ञान एवं क्रिया दोनों हैं, इसीलिए उसे शिव-शक्तिरूप, ज्ञान क्रिया रूप या प्रकाश-विमर्श रूप माना गया है । ज्ञान का प्रतीक पुरुष या शिव है और क्रिया का प्रतीक स्त्री है । इसीलिए परमतत्त्व को अर्द्धनारीश्वर प्रतीक से प्रकाशित किया गया है, जिसमें वस्तुतः एक ही व्यक्ति नर और नारी दोनों हैं ।[१]

सांख्यपरक (निवृत्तिपरक) परम्परा में परमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए जगत् एवं जागतिक मूल्यों का निषेध किया गया है, जिससे उनका जीवन दर्शन संन्यासपरक है । किन्तु तांत्रिक परम्परा में जगत् को परमतत्त्व शिव की ही अभिव्यक्ति माना जाता है । फलतः वह परमतत्त्व की प्राप्ति में बाधक नहीं है । तंत्र में जागतिक मूल्यों को स्वीकार करने एवं उनका उपयोग करने की जो विधा दी गयी है उसकी विशेषता यह है कि जगत् एवं जागतिक मूल्यों को परमलक्ष्य की प्राप्ति में साधक बना देती है । उदाहरण के लिए, निवृत्तिपरक परम्परा में काम के सर्वथा त्याग का विधान है क्योंकि उसे मोक्ष की प्राप्ति (आत्मप्राप्ति) में बाधक माना गया है । किन्तु तंत्र-परम्परा में काम को ग्रहण कर उसे उदात्त बना देने का योग प्रस्तुत किया गया है, जिससे स्वयं काम मोक्ष का साधक बन जाता है । कुलार्णव तंत्र में कहा गया है कि कौल मार्ग

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(तंत्र मार्ग) में भोग भी योग बन जाता है, साधारणतया पाप समझा जाने वाला कामाचार सुकृत हो जाता है एवं सामान्यतया बन्धनकारी समझा जाने वाला संसार ही मोक्ष का रास्ता बन जाता है।[२]

वैष्णव तंत्रों में केवल पंचममकार मैथुन को ही मान्यता दी गयी है। जबकि शैव तंत्रों में मैथुन के अतिरिक्त मद्य, मांस, मौन तथा मुद्रा को भी स्थान दिया गया है।

इसका कारण वैष्णव तंत्र में अहिंसा की प्रमुखता रही है। वे सात्त्विक तथा तामसिक भोजन में भेद करते हैं। वैष्णव तंत्र में इस प्रकार का प्रतिबन्ध अहंकार को दूर करने के लिए उतना सबल मार्ग प्रस्तुत नहीं करता है जितना शैवशाक्त तंत्र करते हैं। तंत्र पंचमकारों का सेवन करते समय उनके प्रति दृष्टिकोण के परिवर्तन पर बल देते हैं। उच्च साधक को जगत् के पदार्थों में भेद नहीं देखना चाहिए, इस दृष्टि से किसी विशेष भोजन के लिए विशेष आग्रह इष्ट नहीं है। लेकिन तंत्रों में प्रारम्भिक साधकों के लिए पंचमकारों की अनुमति नहीं दी गई है। जिस प्रकार भौतिक पदार्थों में विद्युत शक्ति छिपी होती है और विद्युत को ग्रहण करने के लिए किसी का भी उपादान रूप से ग्रहण किया जा सकता है, उसी प्रकार एक ही शक्ति उपदेय और अनुपादेय (स्थूल दृष्टि से) दोनों प्रकार के तत्त्वों में छिपी हुई है। अतः शक्ति के अनुभव की दृष्टि से दोनों का ग्रहण समान रूप से श्रेयस्कर है तथा ग्रहण का भेद अधिकारी भेद के कारण होता है।

तंत्रों ने सांसारिक मूल्यों एवं विकारों दोनों का उपयोग तत्त्व के साक्षात्कार के लिए किया, यह तंत्रों की अपनी विशेषता है। यह मान्य तथ्य है कि जो पदार्थ जहाँ प्राकृतिक रूप से उपलब्ध हैं, वहाँ उन्हीं के उपयोगों से वस्तुओं का निर्माण करने में आसानी होती है। इसी प्रकार काम तत्त्व सभी मानव या मानेवतर प्राणियों में भी प्रमुख घटक के रूप में वर्तमान होता है। अतः इसके संशोधन एवं शुद्धीकरण से परमार्थ का साक्षात्कार कराने वाला मार्ग सुलभता की दृष्टि से सभी मानव मात्र के लिए अनुकूल होगा। इसीलिए अन्त में सम्प्रदायों की साधना में भले ही उनका उत्स निवृत्तिवादी परम्परा में क्यों न हो अन्ततोगत्वा उनमें कामतत्त्व के उदात्तीकरण को स्वीकृति प्रदान की गयी है। काश्मीर शैव दर्शन में पंचमकारों की महत्ता को स्वीकार करने में यह प्रमुख आधार रहा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शैव-शाक्त परम्परा अन्य परम्पराओं से अधिक परिपूर्ण है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं। प्रथम, शैव परम्परा में ही तंत्रों के विभिन्न तत्त्वों का और उपतत्त्वों का सम्पूर्ण विवेचन किया गया है। द्वितीय, शैव परम्परा में ही चेतना के क्रियात्मक पहलू का पूर्ण दार्शनिक स्वरूप प्रकाशित हुआ है। स्पन्द की अवधारणा को इसी में स्पष्ट किया गया है। तांत्रिक दर्शन का चरमोत्कर्ष तंत्र के 'त्रिक' सम्प्रदाय अथवा 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन में दिखाई पड़ता है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य अभिनवगुप्त ने इस दर्शन के समस्त पहलुओं का अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तंत्रालोक' में विधिवत् विश्लेषण किया है।

अद्वैत-वेदान्त वे सिद्धान्त को सामान्य रूप से निम्नांकित सूत्र के माध्यम से उल्लेख किया जाता है - 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः'', अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म निर्धर्मक होने के कारण निष्क्रिय होता है तथा जगत् भ्रम के रूप में प्रतीत होता है। अतः ब्रह्मवादी के लिए जगत् में परिचालित मूल्यों का परित्याग करके ब्रह्म साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। ब्रह्म का साक्षात्कार मात्र ज्ञान से ही सम्भव होता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में जगत् ब्रह्म की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति मात्र है। सृष्टि नटराज का नृत्य है। अतः काश्मीर शैव दर्शन में चेतना को विमर्श रूप मानने के कारण सांसारिकता को भी परमार्थ को प्राप्त करने के लिए साधन बनाया जा सकता है तथा परमार्थ को जानने से सांसारिक मूल्यों अर्थात् अर्थ एवं काम को भी प्राप्त करने वाली बाधाएँ भी दूर होती हैं।

काश्मीर शैव दर्शन में यद्यपि 'अहं' 'इदं' दोनों की मान्यता ही है, लेकिन परमार्थतः 'अहं' की ही प्रधानता है। इसका यह मत योगाचार विज्ञानवाद के पर्याप्त नजदीक है। वहाँ तीन प्रकार की मान्यता, परिकल्पित, परतंत्र तथा निष्पन्न। लेकिन जिस प्रकार 'अहं' 'इदं' की विभिन्न स्तरों को काश्मीर शैव दर्शन में मान्यता दी गयी है, उस प्रकार की मान्यता योगाचार विज्ञानवाद में नहीं दिखाई पड़ती है। लेकिन ग्राह्य, ग्राहक और ज्ञान का भेद जिस प्रकार योगाचार विज्ञान बाद में सम्वित् (ज्ञान) के अन्तर्गत माना गया है। आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है कि बुद्धात्मा अविभाजित होते हुए भी ग्राह्य, ग्राहक और ज्ञान इन तीनों के रूप में प्रतिभासित होती है, उसी प्रकार यहाँ पर भी एक तत्त्व ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के रूप में मान्यता प्राप्त है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक अन्य महत्त्वपूर्ण अर्थ में आगम (तन्त्र) को निगम (वेद) का परिपूरक माना जाता है। निगम (वेद) ऐसे कथनों का समूह है जिन्हें ऋषियों ने भगवान् से प्राप्त किया था अर्थात् वेद ईश्वरीय ज्ञान है, किन्तु आगम योगियों तथा ऋषियों द्वारा अनुभव में प्राप्त सत्यों का अभिलेख है। अतः आगम अनुभव आधारित है, इसलिए अनुभव में प्राप्त आगम (तन्त्र) को आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अनुभव-सम्प्रदाय' की संज्ञा दी है। समस्त तांत्रिक आगमों की उत्पत्ति शिव-शक्ति संवाद से होती है। शक्ति प्रश्न पूंछने वाली है, शिव उत्तर देने वाला है। शिव प्रकाश स्वरूप है शक्ति विमर्श स्वरूप है, क्रिया स्वरूप है। इस प्रकाश और विमर्श के खेल में ही समस्त तांत्रिक आगमों की व्यवस्था है। अभिनव गुप्त के अनुसार शिव और शक्ति का संवाद अपनी ही चेतना के दो स्तरों में संवाद है। ऐसा कहा जाता है कि शिव जो समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है स्वयं अपने को शिव और शक्ति में विभाजित करके आगमों के रूप में ज्ञान का खेल खेलता है। इसी प्रकार की व्याख्या 'भगवद्गीता' में श्रीकृष्ण और अर्जुन की की जा सकती है।

तांत्रिक दर्शन जगत् के विषय में एक समग्र दृष्टि का प्रतिपादन करता है। चेतना के क्रियात्मक पहलू पर बल देने के कारण यह जीवन और जगत् के विषय में निषेधात्मक दृष्टि का प्रतिपादन नहीं करता है। प्रत्येक व्यक्ति को 'अहं' की अनुभूति होती है जो उसके व्यक्तितत्त्व का प्राण है। इस 'अहं' को परिष्कृत तथा संशोधित किया जा सकता है जिससे चेतना का शुद्ध प्रवाह बंधन रहित होकर जीवन और जगत् को अनुप्राणित कर सकता है।

तांत्रिक दर्शन का वैशिष्ट्य मुख्यतः मूल्यों के क्षेत्र में है। कुछ दार्शनिक विधाओं में श्रेय को प्रेय से पृथक् बताया गया है कि श्रेय का चयन विवेकी पुरुष करता है, प्रेय का चयन अविवेकी पुरुष करता है; जो श्रेय का चयन करता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है, जो प्रेय का चयन करता है वह विनष्ट हो जाता है। अर्थात् भोग और मोक्ष दोनों का समन्वय नहीं किया जा सकता है। किन्तु तंत्रों में भोग और मोक्ष के समन्वय की चेष्टा की गयी है। मोक्ष का अर्थ संसार से कट करके आत्मलीन होना नहीं है, वरन सांसारिक मूल्यों को भी स्वातंत्र्य से ग्रहण करना और साथ ही उनसे ऊपर उठे रहना भी है। मोक्ष भौतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता का आधार है। क्योंकि तत्त्व न केवल ज्ञान स्वरूप है अपितु क्रिया स्वरूप भी है। आत्म-प्राप्ति (तत्त्व-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राप्ति) की स्थिति में स्वाभाविक प्रतिभा शक्ति का उदय होता है, जिसे लागू कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

भारतीय दर्शन में मुख्यतः चार पुरुषार्थों को मान्यता दी गयी है - धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष। नैतिकता (धर्म) को श्रेय के अन्तर्गत लिया जा सकता है तथा अर्थ और काम को प्रेय के अन्तर्गत लिया जा सकता है। भारतीय मनीषी इस तथ्य से अपरिचित नहीं थे कि व्यावहारिक क्षेत्र में श्रेय और प्रेय के मध्य में कभी-कभी विरोध उत्पन्न होता है तथा प्रेय को कभी-कभी श्रेय के लिए परित्याग करना पड़ता है। लेकिन फिर भी किसी भी मूल्यात्मक व्यवस्था में प्रेय की आत्यंतिक अवहेलना न तो उचित होगी और न कारगर होगी। अतः हमारे तांत्रिक ऋषियों ने स्व के लिए शुभ तथा पर के लिए शुभ में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। इस समन्वय की प्रक्रिया में ही मोक्ष का महत्त्व बढ़ जाता है। मोक्ष एक ऐसा मूल्य है, जो सभी प्रकार की प्रतिभा तथा शक्ति और शुभ का केन्द्र है, ठीक वैसे ही जैसे सभी प्रकार के बल्वों और पंखों को जलाने व चलाने की शक्ति विद्युत-गृह से आती है। अतः ऐसा व्यक्ति जिसे आत्मा की अनुभूति हुई हो, वह एक अच्छा अध्यापक, दार्शनिक, नेता, उद्योगपति आदि हो सकता है।

प्रत्यभिज्ञा के अन्तर्गत श्रेय और प्रेय दोनों का समन्वय होता है। नैतिकता का मोक्ष में अन्तर्भाव दो कारणों से है - प्रथम, जिस आत्मा की अनुभूति मोक्ष में होती है वह शुभ या शिव है। अतः यह सोचना ठीक नहीं होगा कि शुभ पदार्थ से अशुभ क्रियाओं की उत्पत्ति होती है; द्वितीय, मोक्षावस्था में व्यक्ति सभी के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव करता है। अतः ऐसा व्यक्ति सभी का कल्याण सम्पादन करने का प्रयास करेगा। स्व और पर में भेद का कारण अविद्या है। इस अविद्या के अपोहन के बाद दूसरों के प्रति प्रेम की उत्पत्ति व्यक्ति का सहज स्वभाव हो जाता है। अतः तन्त्रों का मोक्ष सम्बन्धी प्रत्यय एक 'परा-जागतिक' मूल्य न होकर इस जगत् में सम्यक् जीवन के लिए आधार प्रस्तुत करता है।

जयशंकर सिंह

शोध छात्र
दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. बौद्ध तंत्र जिसका प्रभाव तिब्बत, चीन, जापान और कोरिया में है, में यह प्रतीक उलट गया है, वहाँ ज्ञान का प्रतीक स्त्री तथा क्रिया का प्रतीक पुरुष है, जिसका सम्मिलित रूप युगनद्ध कहा जाता है। चीन एवं कोरिया में भी जो 'यिन' और 'यान्ग' का प्रतीक है, वह शिवशक्ति ही है। अन्तर इतना ही है कि यिन (Yin) जो ज्ञान का प्रतीक है, वह स्त्री है, और यांग (Yang) जो शक्ति का प्रतीक है, वह पुरुष है। शैवतंत्र का अर्द्धनारीश्वर ही बौद्ध तंत्र का युगनद्ध है.

२. भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥ - कुलार्णवतन्त्र, २.२४.

सहायक ग्रंथ

१. **अभिनवगुप्तः एन हिस्टारिकल एण्ड फिलॉसोफिकल स्टडी**, के. सी. पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६३.

२. **काश्मीर शैव दर्शन**, बलजिन्नाथ पंडित, श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, १९१४

३. **काश्मीर शैव दर्शन** : डॉ. कैलाशपति मिश्र, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, १९८२

४. **काश्मीर शैवीज्म, दी सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ तांत्रिज्म**, प्रो. कमलाकर, मिश्र, रूद्रा प्रेस, मासाचुसेट्स, यू. एस. ए., १९९३.

५. **सिग्नीफिकेशन ऑफ दी तांत्रिक ट्रेडिशन**, प्रो. कमलाकर मिश्र, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, १९८१.

६. **कुलार्णवतंत्र**

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna and A. M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil(Tran), Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part1, Rs.50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :
The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैनदर्शन में सामायिक और ध्यान की अवधारणा

जैनदर्शन में मोक्षमार्ग के साधन-ज्ञान, दर्शन, चारित्र-सम कहलाते हैं। उनमें अयन यानी प्रवृत्ति करना सामायिक है। चाहे तिनका हो, चाहे सोना, चाहे शत्रु हो, चाहे मित्र सर्वत्र अपने मन को रागद्वेष की आसक्ति से रहित रखना तथा पाप रहित उचित धार्मिक प्रवृत्ति करना सामायिक है। वस्तुतः समभाव ही सामायिक है।

सब जीवों पर समता-समभाव रखना, पाँच इन्द्रियों का संयम-नियन्त्रण, करना, अन्तर्हृदय में शुभभावना, शुभ संकल्प रखना, आर्त-रौद्र दुर्ध्यानों का त्याग करके धर्मध्यान का चिन्तन करना 'सामायिक' है। 'योगशास्त्र' में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करके तथा पापमय कर्मों का त्याग करके मुहूर्त-पर्यन्त समभाव में रहना 'सामायिक व्रत' संज्ञा से अभिहित है -

त्यक्तार्त-रौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मणः
मुहूर्त्त समता या तां, विदुः सामायिक व्रतम् [१]

'आवश्यक अवचूरि' में सामायिक को सावद्य अर्थात् पापजनक कर्मों का त्याग करना और निरवद्य अर्थात् पापरहित कार्यों को स्वीकार करना माना है -

सामाइयं नाम सावज्ज जोग परिवज्जणं
निरवज्जजौगपडिसेवणं च [२]

'भगवती' के अनुसार आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ फल है -

आया सामाइए, आया सामाइयस्य अट्ठे [३]

सामायिक व्रत भली-भाँति ग्रहण कर लेने पर श्रावक भी साधु जैसा हो जाता है, अध्यात्मिक-उच्चदशा को पहुँच जाता है, अतः श्रावक का कर्तव्य है कि वह अधिकसे अधिक सामायिक में प्रवृत्त होवें-

सामाइयम्मि उकए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा
एस्णा कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा [४]

चंचल मन को नियंत्रण में रखते हुए जब तक सामायिक व्रत की अखण्डधारा प्रवहमान रहती है तब तक अशुभ कर्म निरन्तर क्षीण होते रहते हैं

सामाइय-वय-जुत्रो, जाव मणो होइ नियम संजुत्रो
छिन्नइ असुहं कम्मं, सामाइय जत्तिया वारा [५]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जो भी साधक अतीत काल में मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे यह सब सामायिक का प्रवाह है -

जे के वि गया मोक्खं, जे य गच्छंति जे गमिस्संति
ते सब्बे सामाइय-पभावेण मुणेयव्वं ६

चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे अथवा मुनि वेषधारण कर स्थूल क्रियाकाण्ड रूप-चारित्र्य पाले परन्तु समताभाव रूप सामायिक के बिना न किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा-

कि तिव्वेण तवेणं, किजवेणं कि चारित्तेणं
समयाइ विण मुक्खो, न हु हूओ कहवि न हु होई ७

आचार्यों ने सामायिक दो प्रकार का कहा है -

दुवि है सामाइए पण्णत्रे, तं जहा-आगार सामाइए चेव अणगार सामाइए चेव ८

(क) आगार सामायिक (ख) अनगार सामायिक

आगार सामायिक श्रावकों के लिए है और अनगार सामायिक साधुओं के लिए बताए गए हैं। सामायिक के अधिकारी वही हैं जो साधक त्रस-स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है। उसीका सामायिक शुद्ध होता है, जिसकी आत्मा संयम, तप और नियम में संलग्न हो जाती है उसी की सामायिक शुद्ध होती है-

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं
जस्स सामाणिओ अप्पा संजमे णियमे तवे
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि-भासियं ९

सामायिक करने के लिए क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मनःशुद्धि, वचन शुद्धि और काय शुद्धि ये सात बातें अपेक्षित होती हैं-

सामाइयस्स करणे खेत्तं कालं च आसणं विलओ
मण-वयण-काय-सुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेव १०

विनय संयुक्त गणधर देव आदि ने पूर्वाह्न और अपराह्न इन तीनों कालों में छह-छह घटी सामायिक का काल कहा है-

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहि वि णालिया-छक्को
सामाइयस्स कालो सविणय-णिस्सेस णिद्दिट्ठो ११

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

'वसुनंदि श्रावकाचार' में सामायिक की विधि उल्लिखित है लेकिन स्थानक वासी परम्परा में यह विधि मान्य नहीं है -

होऊण सुई चेइय गिहम्मि सगिहे व चेइयाहिमुहो
अण्णत्य सुइपस्से पुव्व मुहो उत्तर मुहो वा
जिणवयण धम्म चेइय-परमेट्ठि-जिणालाणणिच्चंपि
जं वंदणं तियालं कीरइ समाइयं तं खु [१२]

अर्थात् स्नान आदि से शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने ही घर में प्रतिमा के सम्मुख अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्व मुख या उत्तर मुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिननिम्ब, पंचपरमेली और कृत्रिम-अकृत्रिम जिनालयों की जो नित्य त्रिकालवंदना की जाती है। अपने स्वरूप का अथवा जिन बिम्ब का अथवा पंचपरमेष्ठी के वाचक अक्षरों का अथवा कर्मविपाक का अथवा पदार्थों के यथावस्थित स्वरूप का, तीनों लोक का और अशरण आदि वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन करते हुए ध्यान करना सामायिक का योग्य ध्येय है -

चिंततो असएंवं जिणब्रिबं अहव अक्खरं परमं
झायदि पम्मविवायं तस्स वयं होदि सामइयं [१३]

इष्टदेव ध्येय हैं।[१४] ध्येय में एक चित्र हो जाना ध्यान है-

(क) ध्यानं तु विषये तस्मि-न्नेकप्रत्ययसंततिः[१५]

(ख) चितस्सेगग्गया हवइ झाणं [१६]

(ग) एकाग्रचिन्तायोग निरोधो वा ध्यानम् [१७]

इन्द्रिय तथा मन का निग्रही स्थिर आत्मा ही ध्याता है-

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं, स हि ध्याता प्रशस्यते [१८]

ध्याता ध्येय की सम्प्राप्ति हेतु मन, वचन, काय का एकीकरण करता है। संसार के समस्त प्राणियों की चित्तवृत्तियों का चार राहों में निरन्तर दौडना होता है। ये चार राहें 'चत्वर' संज्ञा से अभिहित हैं। चित्तवृत्तियों के चहुँमुखी प्रवाह वशध्यान के चार भेद हुए-आर्त्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल।[१९] निश्चय दृष्टि से और व्यवहार दृष्टि से ध्यान दो प्रकार का है। प्रथम में स्वरूप का आलम्बन है एवं दूसरे में परवस्तु का आलम्बन है-

निश्चयाद् व्यवहाराच्च, ध्यानं द्विविधमागभे
स्वरूपालम्बनं पूर्वं, परालम्बनमुत्तरम्[२०]

ज्ञानी पुरुषों ने ध्यान के आलम्बन रूप ध्येय को चार प्रकार का माना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है-पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत :-

पिण्डस्थं च पदस्थंच, रूपस्थं रूपवर्जितम्
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं, ध्यानस्यालम्बनं बुधैः[२१]

पिण्डस्य अर्थात् शरीर में विद्यमान आत्मा ! उसके आलम्बन से जो ध्यान किया जाता है, वह पिण्डस्थ ध्यान है-

पार्थिवी स्यादथाग्नेयी, मारुती वारुणी तथा
तत्त्वभः पंचमीचेति, पिण्डस्थे पंचधारणाः[२२]

उसकी पाँच धारणाएँ हैं - पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी, तत्त्वभू-

धारणा तु क्वचिद् ध्येये, चितस्य स्थिर बन्धनम्[२३]

ध्येय में चित्र को स्थिर रूप से बाँध लेने का नाम धारणा है। पवित्र मंत्राक्षर आदि पदों का अवलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है उसे सिद्धान्त के पारगामी पुरुष पदस्थध्यान कहते हैं -

यत्पदानि पवित्राणि, समालम्ब्य विधीयते
तत्पदस्थं समाख्यातं, ध्यानं सिद्धान्तपारगैः[२४]

अरिहंत भगवान के रूप का सहारा लेकर जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपस्थध्यान कहते हैं-

अर्हतो रूपमालम्ब्य, ध्यानं रूपस्थमुच्यते [२५]

निरञ्जन सिद्ध भगवान का ध्यान रूपातीत ध्यान है-

निरञ्जनस्य सिद्धस्य, ध्यानं स्याद्रूपवर्जितम्[२६]

परिग्रह का त्याग, कषाय का निग्रह, व्रत धारण करना तथा मन और इन्द्रियों को जीतना-ये सब कार्य ध्यान की उत्पत्ति में सहायता करनेवाली सामग्री है-

संगत्यागः कषायाणां, निग्रहो व्रतधारणम्
मनोऽक्षाणां जयश्चेति, सामग्रीध्यानजन्मनि[२७]

वैराग्य, तत्त्व विज्ञान, निर्ग्रन्थता, समचित्तता, परिग्रहजय ये पाँच ध्यान के हेतु हैं-

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता
परिग्रह जयश्चेति, पञ्चैतेध्यानहेतवः[२८]

शोक, चिन्ता, संताप आदि से उदित चित्तवृत्तियाँ जब एकाग्रता धारणा करती हैं, तब ध्यान की आर्त्तस्थिति बनती है। रुद्र (क्रूर) आशय से गुंथी हुई चित्तवृत्ति की एकाग्रता रौद्रध्यान कहलाती है। धार्मिक कार्यों में एकचित्त होना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation; Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धर्मध्यान है । धर्मध्यान का अभ्यास करते-करते ध्याता का शुक्लध्यान की स्थिति में पहुँचना हो जाता है । धर्म ध्यान में जो कषाय शेष रह जाते हैं, वे सभीध्याता के इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते शमित हो जाते हैं। ध्यान आराधना की उत्कृष्ट उत्तमस्थिति है । ध्याता उत्थित होता जाता है और आत्मा का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट भाषित होने लगता है।[२९] आर्त्त और रौद्रध्यान संसार के परिवर्धक हैं, अतएव अप्रशस्त और अशुभ है। धर्म और शुक्ल ध्यान मोक्ष के साधक हैं अस्तु प्रशस्त और शुभ हैं। वस्तुतः वे ही प्रेय और श्रेय हैं।[३०]

कर्म के क्षय से मोक्ष होता है, आत्मज्ञान से कर्म का क्षय होता है और ध्यान से आत्मज्ञान प्राप्त होता है। अतः ध्यान आत्मा के लिए हितकारी माना गया है-

मोक्षः कर्मक्षयादेव स, चात्मज्ञानतो भवेत्
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः [३१]

ध्यान में लीन हुआ साधक सब दोषों का निवारण कर सकता है। इसीलिए ध्यान ही समग्र अतिचारों (दोषों) का प्रतिक्रमण है-

झांणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं
तम्हा दुझाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिक्कभणं[३२]

ध्याता को जाप से श्रान्त होने पर ध्यान एवं ध्यान से श्रान्त होने पर जाप करना चाहिए तथा दोनों से श्रान्त हो जाने पर स्तोत्र पढ़ना चाहिए-

जपश्रान्तो विशेद् ध्यानं, ध्यानश्रान्तो विशेज्जपम
द्वाभ्यां श्रान्तः पठेत् स्तोत्र-मित्येवं गुरुभिः स्मृतम्[३३]

स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास करना चाहिए और ध्यान से स्वाध्याय को चरितार्थ करना चाहिए। स्वाध्याय एवंध्यान की सम्प्राप्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है अर्थात् अपने अनुभव में लाया जाता है। अभ्यास से जैसे महान शास्त्र स्थिर हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्यास करने वालों का ध्यान स्थिर हो जाता है। वस्तुतः सामायिक से शुभोपयोग होता है और ध्यान से शुद्धोपयोग का होना होता है। सामायिक से यथातथ्य की जानकारी होती है और ध्यान द्वारा सत्य से साक्षात्कार होता है।

मंगलकलश, डॉ. आदित्य प्रचण्डिया
३९४, सर्वोदयनगर,
आगरारोड, अलीगढ़ २०२००१ (उ.प)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. योगशास्त्र, ३.८२
२. आवश्यक अवचूरि, ७.९० ।
३. भगवती १.९ ।
४. (क) विशेषावश्यंक भाष्य २६९० ।
(ख) आवश्यक - नियुक्ति ८००.१ ।
५. आवश्यक निर्युक्ति ८००.२ ।
६. सामायिक प्रवचन, पृ. ७८ ।
७. सामायिक प्रवचन, पृ. ७८ ।
८. स्थानाङ्ग. २.३ ।
९. सामायिक और ध्यान, डॉ. आदित्य प्रचण्डिया, जिनवाणी, जयपूर, जुलाई १९०४, पृ. ८१ ।
१०. कार्तिकेयानुप्रेक्षा / मूल गाथासंख्या ३५२ ।
११. कार्तिकेयानुप्रेक्षा , गाथासंख्या ३५४ ।
१२. वसुनंदि श्रावकाचार, गाथासंख्या २७४ - २७५ ।
१३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथासंख्या ३७२ ।
१४. ध्यानः प्रश्नों की निर्जरा, डॉ.आदित्य प्रचण्डिया, तीर्थंकर, इन्दौर, अक्टुबर, १९८३, पृ. आवरण २
१५. अभिधान चिन्तामणि १.८४ ।
१६. आवश्यक निर्युक्ति १४५६ ।
१७. जैनासिद्धान्त दीपिका ५.२८ ।
१८. (क) ज्ञानार्णव, पृ. ८४ ।
(ख) ध्यानः प्रश्नों की निर्जरा, डॉ. आदित्य प्रचाण्डिया
१९. ध्यानः प्रश्नों की निर्जरा, डॉ. आदित्य प्रचाण्डिया, वही ।
२०. तत्त्वानुशासन ८.६ ।
२१. योगशास्त्र ७.८ ।
२२. योगशास्त्र ७.८ ।
२३. अभिधान चिन्तामणि, १.८४ ।
२४. योगशास्त्र ८.१ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२५. योगशास्त्र ८.७।
२६. योगशास्त्र १०.१।
२७. तत्त्वानुशासन ७५।
२८. बृहद्द्रव्य संग्रह, संस्कृत टीका, पृ. २८१।
२९. ध्यानः प्रश्नों की निर्जरा, डॉ. आदित्य, प्रचण्डिया वही।
३०. वही।
३१. योगशास्त्र ४.११३।
३२. नियमसार, ६३।
३३. श्राद्धविधि, श्लोक ३, पृ. ७८।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एकअंक के लिए रु.	चार अंको के लिए रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ.३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ.४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था /प्रकाशन/ उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें-

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आयारो* के परिप्रेक्ष्य में निःशस्त्रीकरण और विश्वशांति

१. प्रस्तावना

आज से लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व युद्ध का वह स्वरूप नहीं था जो आज है। राजा अपने राज्य के विस्तार के लिए भाड़े की सेना लेकर लड़ता था। राष्ट्रवाद का उदय अभी नहीं हुआ था। भारतवर्ष में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो प्रायः दो कारणों से परस्पर लड़ते थे - भूमि और स्त्री। युद्ध के दुष्परिणामों से लोग सामान्यतः परिचित थे, जैसा कि गीता में अर्जुन के वक्तव्य से स्पष्ट होता है। अपने अधिकार के लिए लड़ना क्षत्रिय धर्म समझा जाता था। युद्धों मे शस्त्रधारी, शस्त्रधारी पर ही आक्रमण करता था। निःशस्त्र नागरिक युद्ध की विभीषिका के शिकार नहीं होते थे। पूंजीवाद का उदय अभी नहीं हुआ था। उस समय व्यापारी और श्रेष्ठी थे जो निर्धन लोगों को दास-दासियों की भांति खरीदा-बेचा करते थे।

ऐसे समय में महावीर और बुद्ध ऐसे दो ऐसे महापुरुष, हुए, जिन्होंने व्यक्तिगत स्तर पर अहिंसा और अपरिग्रह की बात रखी। यह मात्र संयोग ही नहीं था, ये दोनों ही क्षत्रिय राजकुमार थे, जिनका पैतृक व्यवसाय युद्ध करना था। शेष २३ जैन तीर्थंकर भी राजघरानों से ही संबद्ध थे। उपनिषदों मे भी ब्रह्मविद्या का संबंध क्षत्रियों से माना गया है। इसका अर्थ यह है कि अहिंसा और आत्मविद्या की चर्चा उन घरानों में पनपी जिनका युद्ध करना पैतृक व्यवसाय समझा जाता था। स्वाभाविक भी है-युद्ध की विभीषिका से वे लोग अधिक परिचित थे जो स्वयं युद्ध से सीधे जुड़े थे।

२. निःशस्त्रीकरण का अर्थ

अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ डिफेन्स एनालिसेस ने निःशस्त्रीकरण की परिभाषा देते हुए कहा है - 'कोई भी एक योजना, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निःशस्त्रीकरण के किसी भी एक पहलू जैसे संख्या, प्रकार, शस्त्रों की प्रयोजन प्रणाली, उसका नियन्त्रण, उसकी सहायता के लिए पूरक यंत्रों का निर्माण, प्रयोग व वितरण, गुट सूचनाएं एकत्र करने के संयंत्र, सेना का संख्यात्मक स्वरूप आदि को नियमित करने से संबद्ध हो, निःशस्त्रीकरण की श्रेणी में आते है।' पर जैन दृष्टि इससे भिन्न है।

भगवान महावीर के शस्त्रीकरण और निःशस्त्रीकरण संबधी विचार प्रथम

परामर्श (हिंदी) खण्ड १८, अंक ४, सितंबर १९९७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैन आगम 'आयारो' में संग्रहीत हैं। वहाँ शस्त्र के दो प्रकार बतलाये गये हैं- द्रव्य शस्त्र और भाव शस्त्र। पाषाण युग से अणुयुग तक जितने भी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ है, वे सब द्रव्य शस्त्र हैं। दूसरे शब्दों में निष्क्रिय शस्त्र हैं, उनमें स्वतः प्रेरित संहारक शक्ति नहीं है। सक्रिय शस्त्र जिसे आयारी में भाव शस्त्र कहा गया है-असंयम है।[१] विध्वंस का मूल असंयम ही है। निष्क्रिय शस्त्रों में प्राण फूंकने वाला तथा शस्त्रों के निर्माण की मूलभूत प्रेरणा असंयम हीं है।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा की गई यह घोषणा - 'युद्ध पहले मनुष्य के मस्तिष्क में लड़ा जाता है, फिर समरांगण में' इसी भावशस्त्र के स्वर का पुनरुच्चारण है। इस भावशस्त्र (असंयम) को भली भांति समझकर छोडने का प्रयत्न करना निःशस्त्रीकरण है।

३. शस्त्रीकरण के हेतु

आयारों में शस्त्रीकरण के चार हेतु बतलाये गये हैं [२]

१. वर्तमान जीवन के लिए

२. प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए

३. जन्म, मरण और मोचन के लिए

४. दुःख-प्रतिकार के लिए।

जीवन की सुरक्षा के लिए मनुष्य-'जीवो जीवस्य जीवनम्' - यह मान कर अपने जीवन के लिए दूसरे जीवों का वध और शोषण करता है। प्रशंसा या कीर्ति के लिए प्रतियोगितात्मक प्रवृत्तियां करता है। पूजा पाने के लिए मनुष्य युद्ध आदि विविध प्रवृत्तियं करता है। भावी जन्म के लिए अनेक हिंसात्मक प्रवृत्तियां, मारण के लिए बैर-प्रतिशोध तथा अन्य प्रवृत्तियां एवं दुःख-प्रतिकार के लिए दवा व रसायनों हेतु अनेक पशु-पक्षियों की हिंसा करता है। इन सभी कारणों के लिए वह शस्त्रीकरण करता है।

शस्त्रीकरण के मूल में इन कारणों को देखकर यह कहा जा सकता है कि शस्त्रीकरण सुख का हेतु नही दुःख का मूल है। इसी संदर्भ में वित्तैषणा और लोकेषणा को छोड़ने पर भी बल दिया गया है।[३] इच्छा (असंयम) दुःख का मूल है।[४]

प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुख-सुविधा को सर्वोपरि मानता है। जो कुछ उसके पास है, उसकी सुरक्षा का प्रयास करता है तथा जो कुछ उसके पास

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए वह दूसरे देशों में पैर पसारता है।[५] दूसरों के अधिकारों पर चोट करता है, उन पर विजय चाहता है तथा बार-बार शस्त्र का प्रयोग करता है।[६] सुकरात ने भी यही कहा था -'लोक सरल जीवन-पद्धति से सन्तुष्ट नहीं होगे। वे साफा, मेज तथा अन्य उपस्कर इकट्ठा करते रहेंगे। हमें आवास, वस्त्र तथा जूते जैसी आवश्यकताओं से आगे बढ़ जाना चाहिए.. उसके बाद हमें अपनी सीमाओं को बढ़ाना चाहिए, क्योंकि मूल स्थिति अधिक समय तब नहीं रहती... और जो प्रदेश अपने मूल निवासियों का भरण-पोषण करने में काफी था वह अब उसके लिए छोटा हो जाएगा,... तब हम अपने पड़ौसियों की जमीन का टुकड़ा हथियाना चाहेंगे। यदि हमारी तरह उनकी भी आवश्यकताएं सीमा को पार कर जाएं और वे स्वयं धन के असीमित संचय के लिए लग जाएं तो परिणाम होगा-युद्ध।[७] अतः इच्छाओं का विस्तार शस्त्रीकरण का मूल है जो अज्ञान के कारण है। अज्ञानी को हिंसा व शस्त्रीकरण की विभीषिका समझाना कठिन है।[८] ज्ञान ही संयम का आधार है।

४. शान्ति की अविभाज्यता

भगवान् महावीर ने युद्ध के मूल पर प्रहार किया। वे आज के मानवतावादी, शांतिवादी आन्दोलनों के सिद्धान्तों की अपेक्षा कहीं अधिक गहरे में गये। आधुनिक संदर्भों में यदि कहें तो उनका ध्यान प्रकृति के असंतुलन और पर्यावरण प्रदूषण तक गया। वे प्रकृति के किसी भी तत्त्व के साथ किसी भी प्रकार की छेड़-छाड़ को हिंसा मानते थे। इसलिए उन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी सजीव माना। वनस्पति को तो वे जीवन-युक्त मानते ही थे। उनका मानना था जो पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है वह अन्य जीवों की हिंसा का भागी भी बनता है।[९] यह अवधारणा आज के वैज्ञानिक अवधारणा के बहुत निकट है। प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाने पर वनस्पति, पशु-पक्षी और मनुष्य का जीवन भी संकट में पड़ जाता है। प्रो. गाल्टुंग के अनुसार शांति समग्र है, अविभाज्य है। उन्होंने अस्तित्व के पांच प्रकार बतलाए हैं - प्रकृति, मानव, समाज, विश्व और संस्कृति। उनके अनुसार इन पांचों अस्तित्वों का साध्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी परम साध्य के रूप में ये शांति की अपेक्षा रखते हैं -

प्रकृति का साध्य है - परिस्थिति का संतुलन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानव का साध्य है - बोधि प्राप्त करना
समाज का साध्य है - विकास
विश्व का साध्य है - शान्ति
संस्कृति का साध्य है - पर्याप्तता।

गहराई से विचार करने पर ये सभी तत्त्व परस्पर अन्तर्ग्रथित दिखाई देते हैं। इनमें से किसी एक भी तत्त्व की अवहेलना करके शांति स्थापित नहीं की जा सकती। प्रत्येक तत्त्व का अस्तित्व दूसरे तत्त्व के अस्तित्व पर निर्भर है और प्रत्येक तत्त्व की शांति दूसरे तत्त्व की शांति को प्रभावित करती है। प्रो. गाल्टुंग ने ठीक ही लिखा है - 'जब हम शांति के बारे में चर्चा या विचार-विमर्श करते हैं तो इसका आशय इतना ही नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो, बल्कि शान्ति तो समाज की रग-रग में, मानव जाति में और यहां तक कि प्रकृति में भी शांति व्याप्त होनी चाहिए।[१०]

५. हितैक्य का दर्शन

भगवान् महावीर ने कहा - यह हमारा अज्ञान है कि मनुष्य अपने और दूसरे के हितों में टकराव देखता है। सबके हित में ही स्वयं के हित को देखना सही दृष्टिकोण है। भगवान् महावीर के समय तक वनस्पतिकाय की हिंसा न करना भूत-दया का अंश था। आज विज्ञान के माध्यम से हम जानते हैं कि वनस्पति को नष्ट न करके हम वनस्पति पर नहीं, स्वयं पर ही कृपा करते हैं। गहरे अध्यात्मिक अर्थों में किसी का भी अहित करके हम अपना ही अहित करते हैं। विश्व शान्ति के प्रसंग में भी कोई राष्ट्र दूसरे को पराजयी बनाकर अपना भी अहित करता है। अतीत इसका साक्षी है और इस बात की प्रेरणा देता है कि भविष्य में युद्ध या शस्त्र प्रयोग न करने का संकल्प लिया जाए।[११] हिरोशिमा व नागासाकी की विभीषिका व ईराक-ईरान युद्धों के अनुभवों के बावजूद आज भी प्रमत्त मानव दूसरों के अधिकारों के हनन करने में लगे हैं, ऐसे ही व्यक्ति शस्त्र प्रयोग करते हैं।[१२]

६. निःशस्त्रीकरण के आधार ६.१ विजातियों के प्रति प्रेम

आयारो के 'शस्त्र -परीक्षा' अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्थावरों के लिए अहिंसा का प्रतिपादन त्रस-जीवों से पहले किया गया है। स्थावरों में भी वनस्पतिकाय से पहले पृथ्वी, जल; अग्नि और वायु-काय के प्रति अहिंसा का प्रतिपादन है। इस क्रम में भी एक गहरा रहस्य है - त्रस-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जीव के लक्षण हमारे निकट हैं, इसलिए उनके प्रति अहिंसा का भाव सहज उत्पन्न होता है। स्थावर हमारे विजातीय हैं, इसलिए उनके प्रति अहिंसा की भावना उत्पन्न होने की सभावना कम है। अहिंसा का मूल है - हम विजातीय के प्रति भी अहिंसक हो। यही निःशस्त्रीकरण का एक प्रमुख आधार भी है। आज जहाँ अहिंसा की चर्चा होती है, वहां सजातीयों के प्रति विशेष पक्षपात रहता है। यही कारण है कि अनेक सैनिंक और गैर-सैनिक संघों एवं गुटों का निर्माण हुआ है। ये सभी संगठन सजातीयों के प्रति अनुराग व विजातीयों के प्रति द्वेष के परिणाम थे।[१३]

६.२ सर्व-जीव समानता-

भगवान् महावीर ने निःशस्त्रीकरण का आधार प्रस्तुत करते हुए कहा - सब्र जीव समान हैं। जीवों के शरीर भले ही छोटे-बड़े हों, आत्मा सबमें समान हैं। ज्ञान-शक्ति सब जीवों में समान हैं, भले ही ज्ञान का विकास सब जीवों में समान न हो। आत्मवीर्य या सामर्थ्य वीर्य की दृष्टि से कोई न्यूनाधिक नहीं होता।[१४] अतः सजातीय-विजातीय, रंग भेद, जीवन-स्तर, विचार धारा आदि के आधार पर भेद-भाव न रखकर प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री-भाव निःशस्त्रीकरण या विश्व-शान्ति का आधार बन सकता है। प्राणि मात्र को जीवन प्रिय है। सूक्ष्म जीव भी अपने प्राण लूटने की स्वीकृति कब देते हैं ? जो व्यक्ति बलात् उनके प्राण लूटते है, वे उनकी चोरी करते हैं।[१५]

७. निःशस्त्रीकरण का अधिकारी

आयारो में आत्मवादी को निःशस्त्रीकरण का अधिकार माना गया है। अनात्मवादी निःशस्त्रीकरण नहीं कर सकता।[१६] भगवान् महावीर ने जिस अहिंसात्मक आचार का निरूपण किया, उसका आधार आत्मा है। आत्मा का स्पष्ट बोध होने पर ही अहिंसात्मक आचार में आस्था हो सकती है।

७.१ निःशस्त्र कौन हो सकते हैं -

जो अपना दुःख जानता है, वही दूसरों का दुःख जान सकता है। जो दूसरों का दुःख जानता है, वही अपना दुःख जान सकता है। आत्मतुला ही यथार्थ अनुभूति हुए बिना निःशस्त्रीकरण का अधिकार नहीं मिल सकता।[१७] आत्मवाद की ऐसी व्याख्या भगवान् महावीर को आधुनिक मानवतावाद के निकट ला देती है। भगवान् महावीर ने निःशस्त्रीकरण का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया -जो दूसरे के अस्तित्व को नाकारता है वह स्वयं अपने ही अस्तित्व को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नाकारता है। शस्त्रीकरण के मार्ग पर चलने वाला दूसरे की अवहेलना कर आत्मतत्त्व की ही अवहेलना करता है। अतः निःशस्त्र वे ही हो सकते हैं जिन्हें सभी प्राणी आत्मवत् लगें। महावीर ने कहा - 'पुरुष। जिसे तू हनन करने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है'।[१८] जो व्यक्ति क्रिया की प्रतिक्रिया देख लेता है, वह किसी को भी मारना या अधीन कहना नहीं चाहता।

शस्त्रीकरण से वे ही बच सकते हैं जो अतीत के अनुभवों के आधार पर शस्त्र प्रयोग में अपना अहित देख लेते हैं।[१९] जो दूसरों के भय,आशंका, लज्जा, दबाव या प्रलोभन से शस्त्रीकरण नहीं करते वे समय आने पर शस्त्रीकरण से बच नहीं सकते।[२०] समता का आचरण व सबकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने वाले ही निःशस्त्रीकरण के उपासक हो सकते हैं। किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व का हनन करने वाले, उन पर शासन करने वाले, उन्हें दास बनाने वाले, उन्हें परिताप देने वाले, उनका प्राण वियोजन करने वाले अहिंसक और निःशस्त्र नहीं हो सकते।[२१]

७.२ निःशस्त्र ही अभय हो सकते हैं -

भगवान् महावीर निःशस्त्रीकरण का संबंध वीरता से जोंड़ते हैं।[२२] 'पणया वीरा महावीहिं' - यह उक्ति हमें महात्मा गांधी का स्मरण कराती है जो मानते थे-कायर कभी अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। निःशस्त्रीकरण सभी को अभय प्रदान कर सकता है जबकि शस्त्रीकरण का मूल भय है।

शस्त्र के द्वारा झुकाना प्रतिस्पर्धा का बढ़ावा देना है। जिस विजय के लिए शस्त्र बनाने व चलाने पड़े, वह प्रतिस्पर्धा का स्थान है। जो सशस्त्र है वह सभय है, पराजित है। जो अशस्त्र है - वह अभय है, विजयी है। शस्त्र प्रतिस्पर्धा लाता है। एक शस्त्र को व्यर्थ करने के लिए दूसरा, दूसरे को व्यर्थ करने के लिए तीसरा, यह क्रम आगे से आगे बढ़ता है।[२३] अशस्त्र में स्पर्धा नहीं होती।

उपसंहार

सभ्य जीवन की यह विडम्बना है - हम युद्ध तो नहीं चाहते किन्तु भोग-विलास की निन्दा करने से हिचकिचाते हैं, शस्त्र त्याग नहीं चाहते। शांति के प्रयत्न करने वाले सभी संगठनों के लिए भगवान् महावीर का यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संदेश है - यदि शांति चाहते हैं तो सुख की आशा छोड़े।[२४] यह सत्य है -सुख की आसक्ति हम पूर्णतः नहीं छोड़ सकते किन्तु यह भी सत्य है - सभी अपनी इच्छाओं का नियमन तो कर ही सकते हैं। हम सभी प्रकार की हिंसा नहीं छोड़ सकते पर निरर्थक हिंसा तो छोड़ सकते हैं।

अध्यक्ष, **डॉ. बच्छराज दूगड़**
अहिंसा एवं शांतिशोध विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं

टिप्पणियाँ

* जैनों का प्रथम आगम

१. निर्युक्ति में षद्जीवनिकाय के लिए भावशास्त्र-असंयम बताया गया है। देखें-**आयारो** (जैविभा प्रकाशन) पृ. ५७ पर उद्धृत टिप्पण।

२. इमस्सचेव जीवियस्स,
परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाई-मरण-मोएणाए,
दुक्खपडिघायहेउं। **(आयारे, १.१०)**

३. जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे। **वही,** १.९३

४. अट्ठे लोए परिजुण्णे। **वही,** १.१३

५. **स्थानांग सूत्र,** ४.२.६०

६. आलुपे... एत्थ सत्ये पुणे पुणे, **आयारो,** २.४०

७. प्लेटो - **रिपब्लिक**

८. दुस्संबोहे अविजाणए। **आयारो,** १.१३

९. पुढ़वि-कम्म-समारभेण पुढ़वि-सत्थं समारभेमाणे अण्णे वणेगरुवे पाणे विहिंसइ। **वही** , १.२७

१०. " Peace has to be discussed and understood not only as peace among nations, but also within society, among and within human beings and

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

certainly also with nature"

११. इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं। आयारो, १.७०
१२. जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हु दंडे पवुच्चति। वही, १.६९
१३. जैसे उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (एन. ए. टी. ओ.) का उदय साम्यवादियों के विरुद्ध हुआ था।
१४. **विजय के आलोक में** (मुनि नथमल) पृ. ७-९
१५. पुढ़ो सत्थं पवेइयं। अदुवा अदिण्णादानं। **आयारो** १.५७-५८
१६. **वही**, १.१-३
१७. **वही**, १. १४७-४८
१८. **वही**, ५.१०१
१९. आयंकदंसी अहियं ति नच्चा। **वही**, १.१४६
२०. जमिणं अण्णमण्णावतिगिच्छाए पडिलेहाए ण करेइ पावं कम्मं, कि तत्थ मुणी कारणं सिया ? **वही**, ३.५४
२१. **वही**, ४.१-२
२२. **वही**, १.३७
२३. अत्थि सत्थं परेण परं, पात्थि असत्थं परेण पर। **वही**, ३.८२
२४. जे आयारे न रमंति। आरंभमाणा विणयं वयंति। **वही**, १.७०.७१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मूल्य - संरक्षण में कानून का नैतिक पक्ष

मनुष्यता मूल्योत्पन्न मानी गयी है क्योंकि उनके बिना जीवन में श्रेष्ठता की अभिव्यक्ति और अनुभूति संभव नहीं है। मूल्यों के इस महत्त्व एवं प्रभाव के कारण उनके संरक्षण का प्रश्न चिन्तनशील मनुष्य के समक्ष सदैव बना रहा है। मूल्यों की आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का विवाद [१] बने रहने पर भी उनके इस महत्त्व और सार्थकता में कोई अन्तर नहीं आया कि मूल्यों का बना रहना समाज की स्वयं की व्यवस्था एवं सुचारुता के लिये आवश्यक है। यह भी विवाद और विरोध का विषय रहा कि किन मूल्यों को अथवा किस तरह के मूल्यों को प्राथमिकता [२] दी जाय जिससे कि व्यवस्था के बने रहने अथवा उसके परिवर्तित होकर अनुकूल होने की प्रक्रिया विपथगामी न हो। फिर भी, यह स्थिति उस सीमा तक नहीं पहुँची है जहाँ जाकर मूल्यों की निरर्थकता, उनकी शून्यता स्थापित होती हो। मूल्यों में परिवर्तन और मूल्यहीनता की स्थितियों में भेद है।[३] यह संभव है कि मूल्य परिवर्तन को भ्रमवश मूल्यपतन मान लिया जाय, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। अतः मूल्यों की समाजगत अनिवार्यता की स्थिति यह स्वयमेव प्रस्तुत कर देती है कि मूल्य संरक्षण एक ऐसा दायित्व है जिसका निर्वाह प्रत्येक युग के समाज को करना पड़ा है।

मनुष्य जाति द्वारा संरक्षण के लिये किये गये प्रयत्नों, सिद्धान्तों एवं युगीन मापदण्डों के ऐतिहासिक विवरणों से बचते हुए हम इस संदर्भ में दो बातों को स्पष्ट रूप में रेखांकित कर सकते हैं पहली तो यह कि मूल्य-संरक्षण की प्रक्रिया Catheratic या परिशोधनात्मक रही है और दूसरी यह कि वह मूल्यज रही है। यहाँ संक्षिप्त में इनका विवेचन प्रांसगिक होगा।

रहस्यात्मक, अनिश्चित अथवा ऐतिहासिक सूत्र विहीनता होने पर भी मनुष्य जीवन जैवीय कारकों से उद्भूत है।[४] अतः प्रारंभिक स्थिति में जीवन के अस्तित्व का संरक्षण ही वास्तविक मूल्य संरक्षण माना गया है। संभवतया 'अहिंसा' इसी अर्थ में प्रथम मूल्य है और विकास के उच्चतम सोपान पर परम मूल्य है। अस्तित्वगत जैवीय कारकों के संरक्षित होने पर ही मानव समाज के अन्यपक्षीय मूल्यों के संरक्षण की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। इस विकास यात्रा में कई पड़ाव आते हैं। पूर्व संरक्षित मूल्यों को अंतिम न मानकर उनका परिशोधन करते हुए यह प्रक्रिया आगे बढ़ती है। इस दृष्टि से पाश्चात्य नीतिशास्त्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का इतिहास परिशोधन का इतिहास ही है।

दूसरी ओर मूल्य संरक्षण की प्रक्रिया नवमूल्योत्पादिका भी रही है। यह नहीं माना जा सकता है कि पूर्व स्थापित मूल्यों का संरक्षण ही इस प्रक्रिया में होता हो अपितु वह परिशोधन करते हुए नवीन मूल्यों की स्थापना भी करती है।नवीन मूल्योत्पादन के लिये उत्तरदायी घटकों एवं परिस्थितियों का विवेचन करना यहाँ हमारा आशय नहीं है और न वह प्रासंगिक होगा। किन्तु यह कहना पर्याप्त होगा कि मूल्य-संरक्षण की प्रक्रिया मूल्योत्पादिका भी रही है जिसके फलस्वरूप नैतिक विकास की गति में त्वरितता आई है।

मूल्य-संरक्षण की प्रक्रिया में इन दो बातों परिशोधात्मकता एवं नवमूल्योत्पादन के आधार पर जब हम नैतिक निर्णय, निर्णय के औचित्यीकरण के सिद्धान्त एवं उत्तरदायित्व आदि को देखते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि मूल्य-संरक्षण में अन्-नैतिक (Non-Moral) माध्यमों की सक्रिय एवं प्रभावशाली भूमिका रही है। उन्हीं में से एक कानून है।[५]

'कानून' क्या है ? के संदर्भ में हमें कई तरह के उत्तर प्राप्त होते हैं। जैसे नियमों की वह व्यवस्था जो बाध्यतामूलक हो अथवा संप्रभुता द्वारा दिये गये आदेश, अथवा परम्परागत नैतिकता की ऐसी औपचारिक अभिव्यक्ति जिसे राज्य द्वारा लागू किया जाता हो। स्पष्ट करने के लिये कानून के विषय में यह भी कहा जाता है कि कानून वह है जिसे न्यायालयों में न्यायाधीश निश्चित करते हैं अथवा नियमों की वह व्यवस्था जो यातना देने की स्वीकृतियुक्त हो।[६] कानून के बारे में दिए गये ये सभी उत्तर दो शब्दों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते है। प्रथम 'बाध्यतामूलक' और दूसरा 'यातना देने की सहमति'। कानून में जो अनिवार्यता का अंश है वह इन दोनों शब्दों पर आधारित है। अतः इस स्थिति पर विचार करना आवश्यक है।

सामूहित स्वीकृति से उत्पन्न 'राज्य' समाज की ऐसी संस्था रही है जो मनुष्य की आवश्यकताओं से लेकर उसके विचारों और भावनाओं पर व्यापक प्रभाव डालती रही है। यह क्रम ही संभव हुआ है जबकि मनुष्य ने राज्येतर विचारणा को प्रतिपादित करके उसे दीर्घजीवी बनाया हो।[७] प्रारंभ में राज्य ही कानून था किन्तु नैतिक विकास की स्थिति ने राज्य एवं कानून को पृथक् सत्तात्मक घरातल प्रदान किया। आदर्शात्मक रूप में कानून को राज्य का नियंता माना गया है और उसके ऐसा मानने के पीछे कानून में निहित वह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नैतिक तत्त्व है जो उसकी मूल्य संरक्षण की क्षमता पर आधारित है। कानून में से नैतिक तत्त्व के रहित होने पर कानून स्वयं अस्तित्वहीन होने लगता है। किन्तु कानून के समक्ष यह सीमा सदैव रही है कि उसमें निहित नैतिक तत्त्व पर, उसके आधारों एवं घटकों पर की जानेवाली आपत्तियों पर वह स्वयं विचार नहीं करता। उदाहरणार्थ अमुक अपराध के लिये निर्धारित अमुक दण्डावधि का नैतिक औचित्य क्या है ? क्या पूर्वयुगीन दण्डावधि को उत्तरयुगीन स्थितियों में भी यथावत् मानना उचित है ? और यदि नहीं तो उसमें किए जानेवाले परिवर्तन का नैतिक औचित्य क्या होगा ? इस तरह के प्रश्नों से कानून अपना संबंध नहीं रखता और इसलिये उसे 'रूढिवादी' कह दिया जाना स्वाभाविक है।

किन्तु ऐसा नहीं है कि कानून में निहित तत्त्व में परिवर्तन न होता हो। यह अवश्य है कि ये परिवर्तन कानून स्वयं द्वारा न किये जाकर नीतिशास्त्रीय चिन्तन द्वारा किये जाते हैं। मानवीय व्यवहार के वांछनीय पक्ष के अध्ययन एवं उसके श्रेयस् के प्रतिपादन का दायित्व निर्वाह करने में नीतिशास्त्र ने कानूनी प्रावधानों को भी सम्मिलित किया है। फलस्वरूप वे प्रावधान जो नीति-निकष पर सिद्ध न हो सके, अन्ततः कानून को उन्हें समाप्त करना पड़ता है। यदि कानून में हुए परिवर्तनों को इस दृष्टि से देखा जाय तो प्रांरम्भिक काल से आज तक के सभी परिवर्तन नीतिगत चिन्तन के परिणाम ही सिद्ध होते हैं। इस आधार पर कानून को नीति सिद्धान्तों का क्रियात्मक पक्ष मानना अनुचित नहीं होगा, यद्यपि नीतिगत सिद्धान्तों को कानूनी रूप देने में कानून स्वयं की इयत्ता नहीं खोता है। वह उन्हें परिवर्तित करते समय स्वयं के साँचे के अनुसार ही कार्य करता है। यही कारण है कि नीति की दृष्टि से उचित कई कार्य अथवा तथ्य कानूनी रूप ग्रहण नहीं कर पाते हैं। उदाहरण के लिये 'अपाहिज की मदद करना' या 'अंधे को रास्ता पार करा देना' जैसे कार्य। नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ऐसे कई व्यवहार - रूप है जो कानून की बाध्यतामूलक परिधि में सम्मिलित नहीं हो सके हैं। इसलिये उनके उल्लंघन पर कोई 'यातनात्मक प्रक्रिया' नहीं अपनायी जा सकती है। युगीन परिस्थितियों की मांग के अनुसार कई प्रकार के व्यवहार-रूपों को कानूनी परिधि मे लाया गया है जो पूर्व में इस परिधि में नहीं थे। नैतिक विकास का एक आयाम यह भी माना जा सकता है कि पूर्वयुग की तुलना में परवर्ती युग में कितने व्यवहार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूपों को कानूनी रूप दिया गया है।

इस स्थिति पर ए. एल. गुडहार्ट [८] एवं अर्नेस्ट बारकर [९] की मान्यता यह है कि कानून नैतिक तथ्यों को कानूनी रूप में परिवर्तित करते समय नीति की तुलना में नैसर्गिक नियमों की तरह की कार्यशैली अधिक अपनाता है। इसलिये कानून में नैतिक पक्ष गौण या ओझल हो जाता है। इस आधार पर ये विद्वान न तो कानून को यह अधिकार दिया जाना उचित समझते हैं कि वह नैतिक-परिस्थिति पर विचार करे और न यह ठीक समझते हैं कि नैतिक तथ्यों को परिवर्तित करके कानून उन्हैं कानूनी रूप दे। इस आशय के पीछे इन विद्वानों का तर्क यह है कि कानून की नैतिक तथ्यों के परिवर्तन की प्रक्रिया में उस पर (कानून पर)कोई नैतिक-नियंता नहीं होता, इसलिये उच्च प्रकार के नैतिक तथ्य भी अपनी गरिमा एवं सद्भाव सें वंचित होकर 'कुरूप' हो जाते हैं। इस तर्क के समर्थन में वे उन परिवर्तित नैतिक तथ्यों के कानूनी रूप के उदाहरण देते हैं जो समाज में प्रचलित हो गये हैं। इन उदाहरणों में सबसे प्रमुख है विवाह एवं तलाक का उदाहरण। विवाह जहाँ एक और सामाजिक-नैतिक तथ्य है वहीं दूसरी और तलाक एक कानूनी मुद्दा है। तलाक के समय कानूनी पूछताछ, खोज-अन्वेषण और बहस का स्वरूप विवाह को एक 'संविद' -निविद'के रूप में परिवर्तित कर देता है। यही स्थिति बँटवारा, बलात्कार एवं बदचलनी के व्यवहार-रूपों के बारे में भी देखी जा सकती है। इस प्रकार कानूनी रूप में ढले नैतिक तथ्य गरिमा हीन हो जाते है और इसी आधार पर उक्त विद्वान नैतिक परिस्थिति पर विचार करने और नैतिक-तथ्यों को कानूनी रूप में परिवर्तित करने का अधिकार कानून को दिया जाना उचित नहीं समझते हैं।[१०]

किन्तु कानून को यदि नैतिक-तथ्यों को कानूनी रूप में परिवर्तित करने से वंचित कर दिया जाय तो मूल्य-संरक्षण की समस्या जटिलतर हो जायेगी। कारण यह कि समाज में लोग स्वेच्छा से नैतिक बने रहने की तुलना में कानून के प्रति 'सम्मान, स्वीकृति एवं भय' के कारण अधिक नैतिक बने रहते हैं। नैतिक नियम की तुलना में कानून के नियम लोगों को अधिक प्रभावित-नियंत्रित करते हैं। यद्यपि कुछ नैतिक-चिंतक यहाँ यह मानते हैं कि बाह्य रूप से किया गया नैतिक-व्यवहार वस्तुतः नैतिक-व्यवहार नहीं है। ऐच्छिकता नैतिकता की प्रथम शर्त है। ऐच्छिकता की इस अनिवार्य शर्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के कारण नीतिशास्त्र में 'संकल्प की स्वतंत्रता' की समस्या खड़ी हो जाती है। ऐच्छिकता के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करने मे पक्ष-विपक्ष में अनेक तर्क-वितर्कों की कतारें लगी हुई हैं। लेजरवुड[११] ने यह प्रयत्न किया है कि इन सभी पक्ष-विपक्ष के तर्क-विर्तकों को नैतिक, सामाजिक एवं मनोवेज्ञानिक क्षैत्रों में वर्गीकृत करके संकल्प की स्वंतत्रता का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट किया जाय। उनके अनुसार ऐच्छिकता का अर्थ यदि कारण निरपेक्ष स्वतंत्रता (Contra causal Freedom) है तो यह ऐच्छिकता धरती के मानवीय जीवन में अनुपलब्ध है। अतः संकल्प की स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता नहीं है जो इस शब्द से ध्वनित होती है। कुछ अन्य विचारक स्वतंत्रता को नैतिकता के लिये पूर्व शर्त मानते हैं और इसके अभाव में नैतिक-विप्लव का खतरा अनुभव करते हैं।

लेजरवुड के इस निष्कर्ष बिन्दु पर संकल्प की स्वतंत्रता का विवाद समाप्त हो जाता हो, ऐसा नहीं है क्योंकि कीथ लेहरर[१२] यह कहते है कि जब कोई व्यक्ति संकल्प की स्वतंत्रता मानने के लिये अत्यधिक दुराग्रह करता है तो यह स्पष्ट है कि वह स्वतंत्रता को मानने के लिये बाध्य है (He is a determinist in accepting the freedom of will)

इस विवेचन से मूल्य संरक्षण के कानून के नैतिक पक्ष पर यह प्रकाश तो गिरता ही है कि नैतिकता के लिये ऐच्छिकता की अनिवार्य शर्त कुछ खुल जाती है और नियमों को लोगों के प्रति लागू करने में कानून को नैतिक स्वीकृति दी जा सकती है। यह स्वीकृति कानून के लिये मूल्य संरक्षण में सहायक होती है। दूसरी ओर यह इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि नीति द्वारा निर्धारित 'उचितता' के परिपालन में नीति स्वयं अक्षम है। इसलिये नीतिगत उचितता सैद्धान्तिक अथवा पुस्तकीय बनकर ही रह जाती है। अतः नीतिगत उचितता को व्यावहारिक रूप देने के लिये कानून ही माध्यम है। अनैतिक सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन में और प्रजातांत्रिक व्यवस्था की स्थापना में कानून की भूमिका उल्लेखनीय रही है।

कानून द्वारा यह सब किए जाने पर भी उसे नैतिक विषयों पर विचार करने अथवा निर्णय देने का अधिकार दिया जाना उचित नहीं माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि उसके साँचे में नीतिगत चिन्तन के लिये सीमित आकाश है। इसलिये गुडहार्ट एवं बारकर की इस धारणा को कि नैतिक परिस्थिति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पर विचार करने और निर्णय करने का कानून को अधिकार न हो, इस सीमा तक स्वीकार्य माना जा सकता है। किन्तु उनकी यह धारणा कि कानून को नैतिक तथ्यों को कानूनी रूप में परिवर्तित करने का अधिकार भी न हो, स्वीकार नहीं की जा सकती है। इस स्वीकृति से मूल्य संरक्षण की प्रक्रिया में कानून की भागीदारी नगण्य हो जाती है और यह स्थिति हमें नैतिक अराजकता की ओर ले जा सकती है।

यहाँ यह प्रश्न पूछना स्वाभाविक प्रतीत होता है कि क्या कानून ने सदैव मूल्य संरक्षण की भूमिका निबाही है ? जनसामान्य की प्रतिक्रिया तो यह है कि कानून में लेशमात्र भी नैतिकतत्त्व नहीं है। वह प्रक्रियागत निर्जीव नियमों का ढाँचा मात्र है जिसे सक्षम, स्वार्थी एवं अनैतिक लोग अपने हितसाधन के लिये विखंडित करते रहते हैं। कानून का मूल्य संरक्षण का मुखौटा वस्तुतः उनके संरक्षण के स्थान पर विध्वंस ही करता है। यह प्रतिक्रिया एकांगी है क्योंकि कुछ उदाहरणों में ऐसा हो तब, भी पूरी कानूनी व्यवस्था पर यह प्रतिक्रिया लागू नहीं मानी जा सकती है। फिर, मूल्य-संरक्षण का दायित्व कानून पर ही क्यों माना जाय ? कानूनेतर क्षेत्रों का दायित्व कौन निबाहेगा? क्या वहाँ मूल्य संरक्षण की आवश्यकता नहीं है ? आधुनिक जीवन का उपलब्ध नैतिक दृश्य, नैतिक असफलताओं से भरा है। इस स्थिति के कारणों की समीक्षा करना हमारा प्रयोजन नहीं है किन्तु यह स्थिति मूल्य संरक्षण की असफलता को भी दर्शाती है। अतः एक कारण का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। वह कारण है नीतिशास्त्र का नियमवादी स्वरूप।

नियमों की खोज एवं स्थापना को अपनी अध्यवसाय मानने से नीतिशास्त्र 'ऋणों को चुकाया जाना चाहिये, या 'पड़ौसी से प्रेम करना चाहिये' जैसे नियमों को प्रचारित करने में तो सफल रहा है किन्तु इनकी क्रियान्विति के पक्ष की समस्याओं को सुलझाने में उतना सफल नहीं रहा है। फलस्वरूप ऋण कब और कितनी जल्दी चुकाया जाय अथवा प्रेम किसे कहा - बताया जाय और पड़ौसी किसे माना जाय, कितने माने जाँय आदि प्रश्न उपुर्यक्त नियमों में दृढविश्वासी के लिये भी समस्या उत्पन्न करते हैं। इसलिये नियमों को स्थिति विशेष पर लागू करने से उत्पन्न समस्या बनी रहती है और पड़ौसी से प्रेम करने के नियम को मानने वाले भी झगड़ते देखें जा सकते हैं और ऋण लेने वाले यह कहते सुने जा सकते हैं कि वे वस्तुतः ऋण चुकाना चाहते हैं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किन्तु ऐसा करने में वे अभी असमर्थ हैं। विवाद प्रारम्भ हो जाता है और मूल्य भंग की स्थिति बन जाती है।[१३]

नियम निहित मूल्यों के इस प्रकार उल्लघंन होने से मूल्य टूटने का आभास अधिक होता है और मूल्य संरक्षण की आवश्यकता तीव्रतर होती है। किन्तु नियमों के उल्लघंन से मूल्य टूटने में नियमवादी नीतिशास्त्रीय स्वरूप प्रमुख कारण है। दूसरी ओर कानून स्थिति विशेष का आकलन करता है क्योंकि यही उसकी स्वरूपगतता है। कानून हमें हमारे उत्तरदायित्व से इस आधार पर मुक्त नहीं कर सकता कि अन्य लोगों ने भी तो उत्तरदायित्व नहीं निभाया है फिर हमें ही क्यों कठघरे में खड़ा किया जा रहा है ? किसी एक व्यक्ति द्वारा नियम की अवहेलना किसी दूसरे द्वारा अवहेलना करने का आधार कानून की दृष्टि में अमान्य है।[१४] फलस्वरूप वह व्यक्ति को उत्तरदायी ठहराकर दण्ड निर्धारित कर देता है। कानून की यह स्थिति नियमवादी दोष से मुक्त होने के कारण मूल्य संरक्षण में अधिक सहायक है।

इस समस्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में मूल्य संरक्षण, कानून और नैतिकपक्ष के त्रिभुजात्मक संबंध की परिधि में कुछ बिंदु स्पष्ट रूप से उभरकर हमारे सामने आते हैं। प्रथम यह कि मूल्य संरक्षण जो मूल्य परिवर्तन एवं स्थापन को भी स्वयं में सम्मिलित करता है, सामाजिक व्यवस्था की सुचारुता के लिये अपरिहार्य है। इस अपरिहार्यता के रथ को युगों-युगों से गतिमान करने वाले दो चक्र हैं - नीति एवं कानून। नीति भविष्य एवं विकास की ओर उन्मुख है जबकि कानून निर्धारित सीमा में नीति के प्रावधानों को क्रियात्मक रूप में परिवर्तित करने का माध्यम है जो स्वयं अन्-नैतिक (Non-Moral) है।

दूसरा यह कि स्वरूपात्मक दृष्टि से अन्-नैतिक होने पर भी कानून में नैतिक तत्त्व निहित है किन्तु वह नैतिक तथ्यों को कानूनी रूप में परिवर्तित करने के फलक तक ही सीमित है। नीति, स्वयं द्वारा मान्य औचित्य की परिपालना करवाने में असमर्थ है और इस स्थिति में कानून उसके लिये सकारात्मक-सहयोगी भूमिका निर्वाह करता है।

तीसरा यह कि मूल्य संरक्षण के लिये नीति की कानून पर निर्भरता क्या उत्तरोत्तर उसके नैतिक तत्त्व का विस्तार करते हुए उसे नैतिक परिस्थिति पर विचार करने और निर्णय करने का अधिकार दे देगी अथवा कानून ही नीति की सम्पूर्णता को ग्रहण कर लेगा ? कानून ने इस दिशा में कदम बढ़ाना प्रारम्भ कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दिया है क्योंकि कानून अब 'अपराध और न्याय' तक ही सीमित नहीं है अपितु समानता, सामाजिक न्याय, अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन, पर्यावरण और विश्वशान्ति के लिये भी प्रभावशाली माध्यम बनता जा रहा है।

इस स्थिति में नीति-चिन्तकों के समक्ष यह प्रश्न है कि वे किस सीमा तक कानून द्वारा ग्रहण किये जा रहे नीति क्षेत्रको स्वीकार-अस्वीकार करते हैं ? उनकी इस स्वीकृति-अस्वीकृति पर ही भविष्य के नीतिशास्त्र का स्वरूप निर्भर है। यह उत्तरदायित्व नीति चिन्तकों के लिये न केवल गुरूतर है अपितु निर्णायक भी हो सकता है।

डॉ. एस. आर. व्यास
दर्शनविभागाध्यक्ष
दर्शन विभाग, सु. वि. वि.,
उदयपुर (राज) ३१३००१

टिप्पणियाँ

१. Titus, **Living Issues in Philosophy**, p. 27
२. Frankena, **Ethics**, p. 149-53
३. Titus, **Living Issues in Philosophy**, p. 48
४. A. M. Turing, **Computing Machinery and Intelligence**, p. 359
५. Benn and Peters, **Social Principles and Democratic State**, p. 59
६. वही , पृ. ५७
७. वही , पृ. ६६
८. A. L. Goodhart, **English Law and Moral Law** p. 19, 27-28
९. Ernest Barkar, **Principles of Social and Political Theory**, p. 37
१०. Dennis Thomson, **Can a Machine be Conscious**, p. 371
११. Ledgerwood, **The Freewill Controversy**, p.138
12. Keith Lehrer, **An Empirical Disproof of Deteminism** p. 227
13. Benn and Peters, **Social Principles and Democratic State**, p. 69-71
14. वही, पृ. १३१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अहिंसा : शांति के संदर्भ में एक मूल्यांकन

आज भारत के राष्ट्रीय, सामाजिक और राजनैतिक परिदृश्य में अस्थिरता, विघटनात्मकता और जटिलता तथा मानवीय संवेदनहीनता के जो चित्र दिखाई पड़ रहे हैं, यह अनायास, अकस्मात् या मात्र सौ-दो सौ वर्षों की घटनाओं का परिणाम या एक-दो व्यक्तियों के या संस्थाओं के कारण नहीं है। इसके पीछे गत दो हज़ार वर्षें में उभरी दार्शनिक, राजनैतिक व साम्प्रदायिक प्रवृत्तियां अधिक सहयोगी रही हैं। वर्तमान दुरवस्था का कारण समाज के मस्तिष्क और 'बाहु' की समन्वयहीनता और विकृतियां है। वैचारिक और दार्शनिक रूढ़िवाद आज इतना कट्टर हो गया है कि आज इनके विपरीत कुछ कहना दुस्साहस ही कहा जायेगा। जैन, बौद्ध सम्प्रदायों की अहिंसा को अशोक जैसे सम्राट ने स्वीकार कर अत्युदारता का मार्ग अपनाकर युवाशक्ति को शत्रुद्वेषी भावना से विमुख किया। वहीं दूसरी ओर शंकराचार्य ने जीवन के यथार्थ-मानव-अस्मिता-को तथा लम्बी परम्परा से महान् ऋषियों द्वारा अपौरुषेय घोषित वेदों को अविद्या, अज्ञानजन्य मानकर, प्रमाण-प्रमेय व्यवहार में पशु और मानव को समकक्ष मानकर, जीवन के भौतिक और अध्यात्मिक पक्षों को; कर्म और ज्ञान को, परस्पर प्रतिद्वंदी बनाकर अपने विचित्र तर्कों से मानव-अस्मिता को निर्मूल; असहाय और भ्रान्त घोषित कर दिया। 'औपनिषदिक विचारधारा से जब बौद्ध और जैन धर्म निकले तब उन्होंने सन्न्यास को बहुत अधिक महत्त्व दे डाला एवं लोकाराधना का महत्त्व उसी परिणाम को न्यून हो गया। तब से भारतवासी कर्म को हीन, गार्हस्थ्य को मलिन तथा सन्न्यास को देदीप्यमान कर्म समझने के आदी हो गए। बौद्ध और जैन विचारधाराओं का प्रभाव हिन्दुत्व पर भी पड़ा और उसी के फलस्वरूप प्रस्थानत्रयी की टीका निवृत्ति की सिद्धि के लिए की जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि हज़ारों वर्षें तक यह सुनते-सुनते कि गार्हस्थ्य हीन और सन्न्यास उच्च धर्म है, भारत के गृहस्थ भी विचारों से संन्यासी हो गए एवं समाज में फैले हुए अविचारों तथा देश पर आने वाली विपत्तियों का सामना करने की अपेक्षा वे सदैव मंदिरों में आरती सजाने तथा प्राणायाम पूर्वक मोक्ष खोजने को अपना महत् कर्म मानने लगे।'[१] अद्वैत पर फिर कभी; सम्प्रति अहिंसा का ही मूल्यांकन किया जाएगा।

परामर्श (हिंदी) खण्ड १८, अंक ४, सितंबर १९९७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यक्तिगत जीवन में अनेक साध्यों और साधनों में से एक के रूप में अहिंसा की स्वीकृति भारतीय विचार परम्परा में नयी बात नहीं थी। लेकिन जैन बौद्ध सम्प्रदायों के प्रभाव से अहिंसा व्यक्ति के व्यवहार में महत्त्वपूर्ण होती हुई सामाजिक जीवन पर भी हावी हो गयी। यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि इसका व्यापक प्रचार राज्य द्वारा महत्त्व दिए जाने के बाद ही हुआ। यह महज संयोग नहीं था कि प्राक्बौद्ध काल में विदेशियों के आक्रमणों ने भारत को न तो प्रभावित किया और न ही वे पश्चिमोत्तर भारत से आगे बढ़ सके। यह काल था मौर्य सम्राज्य की स्थापना का। दिग्विजय की प्राचीन वैदिक परम्परा को चन्द्रगुप्त-चाणक्य ने; चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार ने फिर, महापराक्रमी सम्राट् अशोक ने सैन्य शक्ति व शत्रु-द्वेषी भावना से प्रेरित और 'राष्ट्र' की भावना से ओतप्रोत होकर मौर्य साम्राज्य की स्थापना और विस्तार का कार्य किया। इस काल में विदेशी आक्रमणकारियों को असफलता का ही सामना करना पड़ा क्योंकि समाज में वैदिक धर्म की, वर्णाश्रम व्यवस्था की महत्ता थी। जीवन के भौतिक पक्ष की भी महत्ता थी। अशोक के समय में और भारतीय इतिहास में संभवत: प्रथम बार, वर्ण-व्यवस्था के विरोधी तथा भौतिक सम्पन्नता को असार मानने वाले सम्प्रदाय को राज्याश्रय मिला, जिसने राजनीति को भी संचालित करना आरंभ किया। परिणामस्वरूप अपने हिंसक, शत्रुद्वेषी और राष्ट्रीयता की भावना से 'सम्राट' बना अशोक; श्रमणत्व की ओर चल पड़ा। राज्यनीति में श्रमतत्व को 'महानता' और विरुद भी मिला। इस 'महानता' की कीमत के रूप में न केवल मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ, अपितु राष्ट्रीय शक्ति के ह्रास की प्रक्रिया भी आरंभ हो गयी। कलिंग युद्ध में हुई अपार जनहानि ने अशोक को हिंसा से विरत किया। उसका हृदय परिवर्तन हो गया। सैनिक उन्नति के प्रति, युद्ध अभ्यास के प्रति वह उदासीन हो गया। इस परिवर्तन के कारण 'उसकी सारी नीतियां परंपरागत भारतीय धर्म और राष्ट्रीयता की विरोधी हो गई। उसने सार्वभौमिकता, अन्तर्राष्ट्रीयता और मानववादिता के आवेश और आग्रह में राष्ट्रीय क्षमता और शत्रुद्वेषी भावना को शिथिल किया'।[२] अशोक की नीति मध्य और पश्चिम एशिया के राजनीतिक कुचक्रियों और रक्तपिपासु डाकुओं पर प्रभाव नहीं जमा सकी.... अशोक के महान व्यक्तित्व के उठ जाने से कारण सैनिक दृष्टि से दुर्बल, राजनीतिक कूटनीति में असावधान भारत पर उनके आक्रमण आरंभ हो गए।[३] यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अहिंसावाद का ही माहात्म्य था ।[४]

अहिंसा शब्द अनेकार्थक और व्यापक दृष्टिकोण वाला है-ऐसा अहिंसा के बारे में जानने के प्रयासों से ज्ञात होता है। अहिंसा शब्द का अर्थ है हिंसा का त्याग। हिंसा में मन, वचन और कर्म तीनों से होने वाली हिंसा निहित है। अहिंसा का तात्पर्य मनुष्य द्वारा अन्य को अल्पतम हानि भी न पहुंचाना। अहिंसा को एक निषेधात्मक आदर्श मात्र न मानकर, कहीं अधिक व्यापक माना गया है। इसका मतलब न केवल दूसरों को हानि पहुंचाने से बचना है; बल्कि उसके उपकार में सचेष्ट रहना भी है।[५] 'अहिंसा' अनिष्ठहीनता की नकारात्मक स्थिति नहीं है। 'अपने विशुद्धतम अर्थ में अहिंसा का अर्थ है अधिकतम प्रेम, अधिकतम उदारता'[६] अहिंसा के प्रयोगकर्ता महात्मा गांधी इसके अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हैं। 'जो व्यक्ति अहिंसक होने का दावा करते हैं उनसे यह अपेक्षित है कि वह अनिष्टकर्ता द्वारा उसे पहुंचाई गई समस्त क्षति को सह लेगा। इस प्रकार समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण तिरोभाव ही अहिंसा है।'[७]

इतने अधिक उद्धरण प्रस्तुत करने का उद्देश्य केवल इतना है कि अहिंसा शब्द का कोई अर्थ छूट न जाय और गांधी को उद्धृत करने का कारण यह है कि जीवन के हर क्षेत्र में अहिंसा का जितना अधिक महिमागान और आग्रह गांधी ने किया उतना गत कई शताब्दियों में किसी भारतीय ने नहीं किया।

पूर्वोक्त उद्धरणों में अहिंसा के जो अर्थ प्रकट होते हैं, उन्हें निम्नानुसार लिखा जा सकता है -

१. **हिंसा का** मन, वचन और कर्म में **त्याग**।

२. अपने प्रति किये गये **अत्याचारों** के प्रति **सहनशीलता**।

३. **बुराई** के बदले में भी **भलाई** करने की भावना।

४. अत्यधिक **प्रेम** और उदारता।

अहिंसा का पहला रूप है मनसा वाचा कर्मणा हिंसा न करना। पहले पाठक स्वयं से ही यह प्रश्न पूछे कि क्या यह संभव है ? यदि है तो किस क्षेत्र में, किन सीमाओं में, या फिर, सार्वभौमिकता यदि संभव नहीं है तो क्यों ? क्या इसलिये कि मानव स्वभावतः हिंसक है ? या इसलिये कि मानवीय कमजोरी उसे हिंसा पर विवश करती है ?

पहले तो यह देखना होगा कि क्या जीव हत्या या किसी को शारीरिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्षति पहुंचाना किसी व्यक्ति की प्रकृति होती है ? संभवतः सभी का उत्तर होगा-नहीं। हत्या या हिंसा किसी व्यक्ति का आदर्श या उद्देश्य नहीं होता। प्रत्यक्ष अथवा परोक्षतः हिंसा का उद्देश्य होता है 'स्व अस्तित्व' की स्थापना एवं रक्षा। फिर चाहे यह व्यक्ति के स्तर पर हो या समुदाय के। इस दृष्टि से न्यूनतम हिंसा है वानस्पतिक जीवों की हत्या। चूंकि इस हिंसा में प्रतिरोध का हमें आभास नहीं होता (कहीं यह हमारी संवेदनहीनता के कारण तो नहीं?) हिंसित वनस्पतियों की पीडा या कराह हमें सुनाई नहीं पड़ती, इसलिये उन्हें काटा जाता है। इनसे बढ़ कर हिंसा होती है, मानवेतर प्राणियों की; जिन्हें आहार माना जाता है। इनकी हिंसा को मनुष्य ने कभी हत्या या अपराध घोषित नहीं किया। अहिंसा का प्रचार करने वाले अशोक ने भी कभी इन निरीह प्राणियों के हत्यारों को अपराधी घोषित करके दण्ड दिया हो-ऐसा प्रमाण नहीं मिलता।

मनुष्य द्वारा मनुष्य की, अबोध, निरीह पशु-पक्षियों की हत्या उचित है या नहीं - यह सम्प्रति हमारे चर्चा का विषय नहीं है। यहां हम केवल एक सार्वभौमिक प्राकृतिक नियम की ओर संकेत करना चाहते हैं - 'वीर भोग्या वसुन्धरा'। मनुष्य इस नियम का निर्माता नहीं है। वह केवल इस नियम से होने वाली हानि से स्वयं को बचाने की, और इससे होने वाले लाभ को प्राप्त करने की योजना बनाकर इस नियम का पालन करता है। मनुष्य का, समूह या समाज बनाकर रहना इसी योजना का परिणाम है। यद्यपि इस बात में विवाद हो सकता है, और जो हमारे लिए यहां महत्त्वपूर्ण नहीं है कि यह योजना मानवकृत है या ईश्वरीय या प्राकृतिक। मानव समाज के इतिहास से ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जो इस अटल नियम की पुष्टि करते हैं।

यहां हम अहिंसा के अर्थ को कुछ और व्यापकता प्रदान करेंगे। यह कहा जा सकता है कि किसी का अहित करने के उद्देश्य से की गई हिंसा ही हिंसा है। अनजाने में अथवा सुधार के लिये की गई हिंसा हिंसा नहीं है। तब फिर हिंसा-अहिंसा की महत्ता कहां रही ? तब तो हमें बजाय हिंसा अहिंसा के विवाद को उठाने के, 'साध्य के अनुरूप' उपयोगी साधन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसी स्थिति में अहिंसा को एक सार्वभौमिक आदर्श साधन न मानकर देश-काल-प्रयोजन के अनुकूल सार्धन के रूप में सीमित मानना होगा। ऐसी अवस्था में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न महत्त्वहीन हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाता है, महत्त्वपूर्ण होता है, उपयोगिता का आदर्श।

वास्तव में मानव के लिए हिंसा अहिंसा का प्रश्न कभी महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। ये दोनों ही किसी साध्य के साधन मात्र हैं। शक्तिशाली के लिये हिंसा साधन है तो शक्तिहीन के लिये अहिंसा साधन रही है। जब तक ये साधन सामान्य भावेन ग्रहण किये जाते हैं तब तक कोई समस्या नहीं होती। लेकिन जब इनमें से किसी एक को प्रमुख मानकर सर्वदा सर्वत्र इसके उपयोग की बात कही जाती है तो, न केवल अस्वाभाविक हो जाता है बल्कि साधन के प्रयोगकर्ता को नष्ट करता है। साथ ही यह भी सत्य है कि मनुष्य किसी का मात्र अनिष्ट करने के लिए हिंसा नहीं करता। हाँ, यह हो सकता है कि किसी कारणवश किसी का अनिष्ट कर, उससे अन्य उद्देश्य की सिद्धि की जाय। यह अवश्य विचारणीय हो सकता है कि हिंसा कब और कितनी की जाय। अभिप्राय यह है कि मात्र अनिष्ट करना उद्देश्य नहीं होता। विक्षिप्त, पागल आदि अपवाद है। अतः इसे यदि हिंसा नहीं कहा जा सकता तो फिर यह मानना होगा कि हिंसा होती ही नहीं। तब अहिंसा की बात ही क्यों?

अहिंसा का दूसरा रूप है अपने प्रति बुराई करने वाले की भी भलाई करने की भावना अर्थात् अनिष्टकर्ता का हितचिन्तन। यह एक वांछनीय भावना है लेकिन परिस्थिति सापेक्ष ही। यदि किसी के कार्य से हमारा अहित हो रहा हो, यद्यपि उस कार्य के कर्ता का उद्देश्य वैसा नहीं है तब, उसका हितचिन्तन किया जा सकता है। भ्रमवश, गलती से अथवा क्षणिक आवेश में किसी ने हमारा अनिष्ट कर दिया तो भी उसका हितचिन्तन किया जा सकता है। लेकिन कोई जान बूझकर अपने लाभ के लिये हमारा निरन्तर अनिष्ट कर रहा हो तो, इस अवस्था में भी भलाई करने की बात सोचना अपवाद हो सकता है, विवशता हो सकती है। यह व्यवहार न तो प्रशंसनीय है, न ही 'सुधार' में यह सक्षम होता है। हाँ, अपना सब कुछ खोकर, अपना अस्तित्व नष्ट होने पर भी ऐसा करना किसी व्यक्तिगत आदर्श के रूप में कोई व्यक्ति स्वीकार कर सकता है लेकिन यह अस्वाभाविक होगा या फिर अमानवीय अथवा अतिमानवीय ही होगा; मानवीय आदर्श नहीं। ऐसा इसलिये नहीं कि हम मानव को हिंसक मानते हैं; बल्कि इसलिये कि अहिंसा को बिना शर्त सर्वकालिक आदर्श के रूप में किसी भी व्यक्ति ने, समाज ने या राष्ट्र ने व्यवहार में स्वीकार ही नहीं किया। यह अस्वीकृति साहस या सहनशीलता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की कमी के कारण नहीं, बल्कि उसकी सीमित युक्ति-युक्तता के कारण और मानव प्रकृति के विपरीत होने से ही है। मानव सदा ही अहिंसक रहे या सदा ही हिंसक रहे यह संभव नहीं। ऐसे में अहिंसा के आदर्श को व्यक्ति या समाज पर थोपने का प्रयास उसके साथ अन्याय ही होगा। इस अन्याय की चर्चा लेख में यथा स्थान की जाएगी। यहां इतना ही व्यक्तव्य है कि बुराई के बदले भलाई एक अप्राकृतिक आदर्श होने से, स्थापित नहीं हो सकती। और यदि इस पर बलात् आचरण करने का प्रयास किया गया तो यह आचरणकर्ता व्यक्ति राष्ट्र या समाज के लिए विनाशकारी होगा। बुद्ध, गांधी, आदि ने यदि इसका पालन किया है तो ऐसा इसलिए कि उन्हें हिंसा की आवश्यकता ही नहीं पड़ी अर्थात् उनके जीवन में ऐसे लोगों से उनका सामना नहीं हुआ जो सर्वथा आसुरी प्रवृत्ति के हो। या फिर वे इतने व्यक्तिनिष्ठ रहे हों कि ऐसी परिस्थितियों से भी उदासीनता उनमें बनी रही।

अहिंसा का तीसरा रूप अपने प्रति किए गए अत्याचारों के प्रति सहनशीलता। यह पूर्वोक्त अर्थ के निकट है और उन्हीं कारणों से अस्वीकार्य भी। अपने प्रति किए गए अत्याचारों को सहना अत्याचार में वृद्धि और प्रसार में एक प्रमुख कारक होता है। भारत विभाजन के समय जो शर्मनाक घटनाएँ घटी थी, वे सब इस सहनशीलता के परिणाम ही थे। एक प्रसिद्ध उक्ति भी है- अन्याय करना पाप है, लेकिन अन्याय सहना उससे भी बड़ा पाप है। मानव जाति के लंबे इतिहास को जानते हुए भी अत्याचारों को सहने का उपदेश देना मानव-प्रकृति को न समझ पाना ही कहा जाएगा।

अहिंसा का चौथा रूप है, अत्यधिक प्रेम व अत्यधिक उदारता। प्रेम एक अत्यंत व्यापक और गूढ़ तत्त्व है। व्यापक इस अर्थ में कि यह सृष्टि के समस्त प्राणियों में पाया जाता है। यह बात अवश्य है कि इसके अनुभव की स्पष्टता आत्म-चेतना के विभिन्न स्तरों के अनुरूप होती है। फलतः मनुष्य में यह स्पष्टतम लक्षणों में अनुभूत और व्यक्त होता है। गूढ़ इसलिए कि अनुभव के स्तर पर यह जितना स्पष्ट होता है, शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही अस्पष्ट होती है। प्रेम की परिभाषा देने का प्रयास न कर हम उसके कुछ लक्षणों की ओर संकेत मात्र करेंगे। माता-पिता, भाई, बहन, पुत्रादि के प्रति ममत्व प्रायः सभी में होता है। इस ममत्व के कारण इनसे ऐसा भावात्मक संबंध हो जाता है, जिसमें प्रेमी का अहं निष्प्रभावी प्रतीत होने लगता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रेमानुभूति की स्पष्टता और विस्तार ममत्व का समानुपाती कहा जा सकता है। व्यक्ति के ममत्व का दायरा जितना बड़ा हो, प्रेम का दायरा भी उसके अनुसार बढ़ता है। ममत्व प्रेम की पूर्वापेक्षा है और ममत्व के पूर्व ज्ञान अपेक्षित है। प्रिय के ज्ञान के बिना प्रेम नहीं होता। 'प्रेम' तब तक प्रकट नहीं होता जब तक प्रेमी से भिन्न व पृथक् कोई प्रिय न हो। अर्थात् प्रेम के लिए यह आवश्यक है कि कम से कम दो व्यक्ति हो। किसी व्यक्ति में प्रेम उसके अतिरिक्त कम से कम एक या अधिक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों केप्रति 'ममत्व' है। इसे एक कामचलाऊ परिभाषा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रेम के लिए प्रेमी में प्रिय के प्रति निष्कपटता तो आवश्यक है ही प्रिय में भी प्रेमी को बांधने की क्षमता होनी चाहिए। प्रिय का आकर्षक होना अत्यंत आवश्यक है। आकर्षक कई स्तरों व प्रकारों का हो सकता है। नख-शिख आकर्षकत्व से लेकर आचरण तक 'आकर्षक' के अंतर्गत ही सकते हैं। आकर्षण के अभाव में उदासीनता, तटस्थता तो हो सकती है, लेकिन प्रेम नहीं होता। फिर आकर्षित होने की कसौटियां भी भिन्न भिन्न होती हैं। सब में सबके प्रति आकर्षण हो; यह संभव नहीं है। अत्यधिक प्रेम और अत्यधिक उदारता 'मात्रा' की अधिकता के अर्थ में हो सकता है। जिस तरह मनुष्य सीमित है, उसी तरह उसके प्रेम का दायरा भी सीमित होता है। भारत के किसी कोने में रहने वाले एक व्यक्ति में, संसार के सभी व्यक्तियों के प्रति प्रेम हो, यह संभव नहीं है। घृणा न हो; यह हो सकता है। लेकिन घृणा न होना, प्रेम नहीं है।

सिद्धान्ततः; कल्पना में, यह संभव है कि हर व्यक्ति में 'यौक्तिक प्रेम' हो। लेकिन यह केवल वैचारिक ही होगा। मनुष्य सभी समान है। इसलिए सबसे प्रेम करना चाहिए, यह उक्ति 'युक्ति प्रेम' का रूप है। व्यवहार में, सक्रिय रूप से व्यक्ति, परिवार, समुदाय या राष्ट्र तक सीमित होता है। प्रेम तो विचारों सिद्धातों व आदर्शों के प्रति भी होता है। इनका ऐक्य या समन्वय 'विश्व प्रेम' की भावना को जन्म दे सकता है। लेकिन यह शाश्वत अनुपलब्ध आदर्श मात्र है।

यहां तक हमने केवल सांसारिक प्रेम की ही चर्चा की है। अब जरा दिव्य प्रेम की बात करें। दिव्य प्रेम दो ही 'प्रिय' से हो सकता है। स्वयं से और परमात्मा से। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं होगा, जिसमें दिव्य प्रेम न होता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो। वास्तव में मानव का खण्ड -२ में अभिव्यक्त प्रेम; अभिव्यक्ति के माध्यम की सीमितता, भिन्नता और विषमता के कारण ही लौकिक होता है। सामान्यतः यह प्रेम स्वयं से ही होता है।८ 'मानवीय स्व' तो सीमित व संकीर्ण होता है ही, उसकी आत्मा-जो कई प्रकार के तत्त्वों से बंधकर मानवीय स्व के रूप में अनुभूत होती है - भी अव्यापि और अल्पज्ञ होता है। इसलिये प्राकृतिक विषमताओं, अनेकताओं और विविधताओं का अतिक्रमण मानव के लिए संभव नहीं होता है। फलतः दिव्य प्रेममय होता हुआ भी उसका व्यवहार यथार्थ की स्वीकृति के आधार पर होता है। इसलिए उससे भी सर्वदा सर्वत्र अहिंसक होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। श्रीकृष्ण के बारे में विख्यात है कि वह 'प्रेममय' थे लेकिन उन्होंने ही अर्जुन को भयंकर हिंसा के लिए तैयार किया।

वास्तव में प्रेम का हिंसा से विरोध नहीं है। इसी तरह अहिंसा की अनिवार्यता भी प्रेम में नहीं है। प्रेम हिंसा भी कराता है। भगतसिंह, चंद्रशेखर आदि हिंसा पर विवश हुए तो प्रेम के ही कारण। महाराणा प्रताप और उनके पुत्र अमर सिंह का आजीवन युद्धरत रहना भी प्रेम का परिणाम है। मातृभूमि से प्रेम इन सभी में था। अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग कारणों ने इन्हें हिंसा के लिए प्रेरित किया। इन हिंसात्मक क्रियाकलापों पर वैचारिक मतभेद अवश्यंभावी है, क्योंकि भेद यथार्थ है, शाश्वत है। हाँ, अवश्य कहा जा सकता है कि 'प्रेम' के साथ विवेक का उपयोग न्यूनाधिक होता है। घटनाक्रम में सम्मिलित और सक्रिय व्यक्ति के विचारों में निष्पक्षता संभव नहीं है। कल्पना कीजिए भारत विभाजन के समय पीड़ित व्यक्ति और आज के असम्बद्ध एक व्यक्ति में क्या तत्कालीन अत्याचारों पर समान प्रतिक्रिया हो सकती है ? सामान्य परिस्थितियों में हर व्यक्ति का जीवन बिना हिंसा के ही चलता है। कोई भी मनुष्य हमेशा हिंसक नहीं होता; इसलिए उसे हमेशा अहिंसक बने रहने का उपदेश व्यर्थ है। दूसरी ओर अहिंसा के अत्यधिक प्रचार-प्रसार से समाज मिथ्यापथ पर चल पड़ता है। आसुरी शक्तियों के सामने जहां हिंसा अनिवार्य हो सकती है; वहीं अहिंसा के पथगामी पूरे मन से उन्हें कुचल भी नहीं पाते। फलस्वरूप अन्य लोग, आसुरी प्रवृत्तियों के शिकार बनते हैं।

विज्ञान और प्रौद्यौगिकी उपलब्धियों ने, संचार प्रणाली के विस्तार ने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अलग-अलग भौगोलिक सीमाओं के घिरे मानव समुदायों को परस्पर परिचय प्रदान किया। मानव की सर्जन शक्ति और कौशल का प्रस्फुटन और पल्लवन हुआ। छोटे-छोटे समुदायों तक सीमित चिन्तन प्रक्रिया को व्यापकता प्राप्त हुई। विश्वबन्धुत्व के आदर्श की सीमा विस्तारित हुई और इन सबके साथ मानव जीवन सहजता से जटिलता की ओर उन्मुख होता जा रहा है; अब यह स्थिति है कि मानव जीवन वरदान है, पवित्र है, पुण्य फल है, आदि मानने के बजाय संघर्ष, नाटक और प्रयोग माने जा रहे हैं जो अनिश्चयात्मक और त्रिशंकु स्वरूप का संकेत देते हैं। समस्त बौद्धिक मन एक तनाव से युक्त होता जा रहा है। आशावादी लोग सुधार की, निराशावादी लोग विनाश की प्रतीक्षा में है। अंतर्राष्ट्रीय मानव मंच जहां परमाणु युद्धजन्य विभीषिका की आशंका से विचलित हैं, वहीं व्यक्तिगत जीवन भी अनेकानेकसमस्याओं से त्रस्त है। इन सबसे वह मुक्त होना चाहता है। इन से मुक्त होकर वह जिस प्राप्तव्य की वह कल्पना करता होगा - संभवतः वहीं शांति कही जाती होगी। व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र तथा राज्य कई प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त हैं। आजीविका, उत्पादन, उपभोग, हर स्तर पर, हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार, संकीर्ण व स्वार्थ मनोवृत्तियां, युद्धभय, परस्पर प्रेम के स्थान पर अविश्वास, अनास्थाजन्य अनिश्चितता आदि कुछ समस्यामूल हैं। ऐसे में व्यक्ति और समाज की सहज गति अवरुद्ध होती है। सहज जीवन में व्यवधान मानव को गन्तव्य तक पहुंचने से रोकती है। उस या उन व्यवधानों से रहित अवस्था ही शायद शांति कही जा सकती है।

वास्तव में, स्वरूपतः शांति क्या है - कह पाना बहुत से लोगों के लिए शायद कठिन होगा। हो सकता है व्यक्तिगत स्तर पर संवेदनहीनता और असम्बद्धता के कारण या सौभागयवश प्राप्त समस्याहीन जीवन, जो लोग जी रहे हैं, उन्हें इसका पता हो। फिलहाल तो इतना ही कहा जा सकता है कि वह अवस्था जिसमें किसी भी प्रकार का व्यवधान न हो, सहज गतिशीलता में बाह्य दबाव न हो 'शांति' है। यह शांति की परिभाषा नहीं है। यह एक मान्यता मात्र है कि जो कुछ हमें अवांछित और निराकरणीय प्रतीत होता है, उसके न रहने से जो अवस्था होगी, जो अनुभूति होगी-उसे हमने 'शांति' कह दिया। लेकिन एक बात स्पष्ट और निर्विवाद है कि शांति अनुभूति का विषय है और पूर्णतः आत्मनिष्ठ है। समाज को शांत हम तभी कह सकेंगे, जब उसके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रत्येक घटक मनुष्य उसका अनुभव करें। एक भी व्यक्ति यदि उस अनुभव से वंचित है, तो कुछ व्यक्तियों को तो शांत कहा जा सकेगा, परन्तु समाज अशांत ही कहा जाएगा। इसलिए मानव व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से शांति स्थापना के लिए या अधिक स्पष्ट कहें तो - अशांति और उसके कारणों को दूर करने के लिए प्रयासरत है। व्यक्तिगत प्रयास के लिए साधन चर्चा प्राचीन भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में पर्याप्त विस्तार से की गई है। यद्यपि वहां शाश्वत/पूर्ण शांति की चर्चा है, जिसके लिए धैर्यपूर्वक जन्म-जन्मान्तर तक प्रयास अपेक्षित है। तब भी इनमें से किसी सम्प्रदाय ने (मेरी सीमित जानकारी के अनुसार) तर्क अथवा युक्ति से यह सिद्ध नहीं किया कि शाश्वत शांति प्राप्ति के बाद पुनः व्यक्ति अशांति को प्राप्त नहीं होगा। साथ ही मानव के ज्ञात इतिहास व अतीत सम्बन्धी कल्पनाओं में कहीं ऐसा भी संकेत नहीं है कि पूर्ण समाज कभी अशांत या शांत रहा हो। अतः यह हमारे लिए अकल्पनीय है कि समूचा मानव समाज, संसार में जीवित हर व्यक्ति किसी एक अवधि में (निद्रा की बात हम नहीं करते) शांति का अनुभव करे।

मानव जीवन को व्यवधानरहित करने में अहिंसा की भूमिका पर नजर डालें तो पायेंगे कि वह नगण्य है। ऐसे व्यवधान जिसका उत्तरदायित्व मनुष्य पर नहीं है, के दुष्परिणामों का सहनशीलता के द्वारा ही सामना किया जा सकता है। इस सहनशीलता को अहिंसा कहना चाहें तो हमें आपत्ति नहीं होगी, लेकिन इस सहनशीलता को अहिंसा कहना क्या उचित होगा?

मानव निर्मित व्यवधानों से उबरने के लिए युक्ति-संगत व्यवहार ही एक मात्र साधन है। व्यवहार का आधार वे गुण होने चाहिए जो मनुष्य को पशुओं से अलग श्रेष्ठ रूप में स्थापित करते हैं। इसे ही धर्म कहा जाता है। जो व्यक्ति जिस जगह है, वहां अपने सामर्थ्यनुसार धर्म की स्थापना की दिशा में प्रयासरत रहे। कर्तव्य पालन में हिंसा अहिंसा समयानुकूल ग्रहणीय है। किसी परमार्थिक स्वरूप की कल्पना कर, अहिंसा का प्रचार करना यथार्थ से पलायन है। हमारा आदर्श 'शांति' नहीं धर्म होना चाहिए। गलत आदर्श हमेशा अर्थहीन प्रयासों के रूप में व्यक्त होता है और निराशा ही हाथ लगती है। आदर्श निर्माण जीवन्त सत्य पर, ठोस यथार्थ पर आधृत होना चाहिए। मानव प्रकृति जैसी आज है वैसी हमेशा रही है और कोई कारण नहीं है, आगे भी वैसी न रहे। वह न तो सदा हिंसक होती है और अहिंसक। वास्तव में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मावन के सामने हिंसा अहिंसा गौण है। जरूरत पड़ने पर हिंसा न करना उसके स्वभाव में ही नहीं और बिना जरूरत के हिंसा करना भी उसके स्वभाव में नहीं है।

अब तक हमने अहिंसा को समझने का प्रयास किया और पाया कि मानव जीवन में अहिंसा को अपने व्यवहार का आदर्श नहीं माना जा सकता। यहां हमने प्रायः अहिंसा का अर्थ 'मनसा वाचा कर्मणा' हिंसा न करना ही लिया है अन्य किसी भी अर्थ में जो मात्र 'निषेध नही' या मात्र 'विध्यात्मक' हो हमारी समझ में नहीं आता। हिंसा नहीं होनी चाहिए-इसे कुछ शर्तों के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है। प्रेम, दया, उदारता आदि के लिए किस भाषा दैन्य के कारण अहिंसा शब्द का प्रयोग किया जाय - यह भी हम नहीं समझ सके। यह ठीक है कि ये शब्द जिन अर्थों का संकेत देते हैं, वे अहिंसात्मक होते हैं। यद्यपि यह अनिवार्य नहीं है भारतीय इतिहास के संदर्भ में यह भी हमने देखा कि अहिंसा के प्रचार-प्रसार से भारत की राष्ट्रीय अस्मिता भी खतरे में पड़ी; भारत गुलाम हुआ और अन्ततः राष्ट्र की कल्पना, अवधारणा भी नष्ट होने लगी। जिन समुदायों व राष्ट्रों ने अहिंसा को आदर्श नहीं बनाया वे उत्तरोत्तर प्रगति करते रहे और अहिंसक भी बन गये। हमने यह भी स्वीकार किया है कि पूर्णतः हिंसा रहित, समाज की कल्पना या स्थापना संभव नहीं है। यह इसलिये नहीं है कि इस दिशा में सहीं प्रयास नहीं हुए, बल्कि इसलिए यह मानव स्वभाव या प्रकृति के प्रतिकूल है।

मानव समाज के व्यवहार के अवलोकन से ज्ञात होता है कि समाज में सात्त्विक और तामसी प्रवृत्ति के लोग कम होते हैं, राजसी प्रवृत्ति के लोग अधिक। समाज में शांति अशांति की अवस्था राजसी प्रवृत्ति के लोगों पर निर्भर करती है। राजसी प्रवृत्ति के लोग जब तामसी लोगों के वश में होते हैं, तो अनाचार, अपराध, हिंसा, बढ़ने लगती है। लेकिन सारे राजसी प्रवृत्ति के लोग एक साथ तामसी प्रवृत्ति के पक्ष में नहीं हो जाते। इसलिए समाज में कभी पूर्णतः अशांति या अनाचार नहीं होता। वैसे ही पूर्णतः शांत और सात्त्विक समाज भी अकल्पनीय है। संसार में समस्त संघर्ष सात्त्विक और तामसी प्रवृत्ति के बीच होता है। राजसी प्रवृत्ति इनकी प्रवर्तक होती है। सृष्टि अनंत काल से ऐसी ही चली आ रही है। कभी समाज में सभी सात्त्विक प्रवृत्ति के लोग ही रहे या कभी केवल तामसी प्रवृत्ति के लोगों का ही आधिपत्य रहा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो, ऐसा प्रमाण इतिहास में नहीं मिलता।

कोई गुण क्यों कभी आधिपत्य जमा लेता है - इस प्रश्न का उत्तर देने में हम असमर्थ हैं और यह प्रस्तुत लेख में अनावश्यक भी है। केवल इतना ही सम्प्रति ग्रहणीय है कि समाज में अच्छे और बुरे, दैवी और आसुरी प्रवृत्ति के लोग रहते हैं। मध्यम प्रकार के लोग जिन्हें, न दैवी प्रवृत्ति का कहा जा सकता है न आसुरी प्रवृत्ति का - कभी समाज की समस्या नहीं होते यदि आसुरी प्रवृत्ति के लोगों का नाश कर दिया जाये तो वे स्वयं व दैवी प्रवृत्ति के लोगों की ओर झुक जाते हैं। अतः आसुरी प्रवृत्ति के लोगों के नाश के लिए हमें हर स्तर पर हिंसा की आवश्यकता होती है। चूँकि आसुरी प्रकृति के लोगों की संख्या भी कम होती है। अतः हिंसा भी कम होती है। इसके विपरीत अहिंसा की आदर्श साधना के रूप में स्वीकृति और प्रचार से आसुरी प्रकृति के लोगों पर अंकुश लगाना कठिन होता है और हमारे न चाहते हुए भी समाज में आसुरी प्रकृति के लोगों की शक्ति बढ़ती है।

जहां तक विश्व शांति का प्रश्न है - वह पूर्ण रूपेण कभी स्थापित नहीं होती। मानव समाज में लम्बे इतिहास को जानते हुए भी हम पूर्ण विश्व शांति की कामना करते हैं तो यह अस्वाभाविक होने से फलित नहीं हो सकते। हमारे लिए शांति के भोग की अवधि उतनी ही हो सकती है, जितनी दो युद्धों के मध्य का काल है। या अशांति की चरम स्थितियों के मध्य का काल हो सकता है। मानव और उसके समाज के प्रकृति के अध्ययन से निष्कर्ष तो यही निकलता है कि अहिंसा से विश्व शांति का कोई सम्बन्ध नहीं है। यही बात व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन के लिए भी ही है। ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं, जो अहिंसा में आस्था नहीं रखते लेकिन उनका जीवन अशांत होता है।

इस लेख में हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि अहिंसा अपने किसी भी अर्थ में किसी भी वांछित साध्य का स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत आदर्श साधन नहीं हो सकती। इसके विपरीत यदि उसे साधन के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो, न केवल आसुरी प्रवृत्तियां शक्तिशाली हो जाती हैं, बल्कि अहिंसा साधन के रूप में अनेक प्रकार से व्यक्ति, राष्ट्र और समाज का अहित भी करती है। भारत में अहिंसक आन्दोलन की परम्परा चल पड़ी है, जो हिंसा का ही सूक्ष्म रूप है। राष्ट्र में वास्तविक विघटनकारी तत्त्वों का पनपना भी अहिंसात्मक उदारता का परिणाम है, समाज में शांति का एकमात्र उपाय समाज

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के घटकों को धर्म स्थापना के लिए हर क्षेत्र में शक्ति अर्जित करना ही है।

बल प्रयोग न करना, अथवा प्रेम करना साध्य नहीं होते। ये उपफल हैं स्वरूपलब्धि की प्रक्रिया के। स्वरूपलब्धि की प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज दोनों ही पर आसुरी तामसी प्रवृत्तियां अवरोध के रूप में होती हैं। उन्हें कुचलने के लिए शक्ति ही उपेक्षित है। विश्व शांति के साधन के रूप में भी शक्ति ही उपयोगी है। हर राष्ट्र शक्तिशाली हो, तो संतुलन स्थापित होगा। संतुलित समाज में ही मानव-मूल्यों की स्थापना संभव है मानव-मूल्य प्रतिष्ठित संतुलन को ही 'शांति' कहा जा सकता है।

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशास्त्र, **बी. कामेश्वर राव**
पं रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपुर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य-संस्कृति के चार अध्याय, पृ. ५१०
२. प्राचीन भारत पृ. १८५
३. वही, पृ. १८२
४. द्रष्टव्य-दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय, पृ. ५१४-१५
५. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. १६८
६. आधुनिक भारतीय चिन्तन, पृ. २१३
७. महात्मा गांधी का समाज दर्शन - पृ. ६० उद्धृत.
८. आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

NDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A. M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil(Tran.), Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part1, Rs.50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :
The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रंथ समीक्षा

-१-

'कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलङ्कार' - लेखक - डॉ. विष्णुराम नागर, प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, १९९५, पृ. २२७, मूल्य रु. १५०/-

महाकवि कालिदास की योग्यता इतनी है कि उस के बारे में जो भी लिखा जाय, कम ही महसूस होता है। अतः उस पर नित्यनूतन किताबें प्रकाशित होती रहती है। पर डॉ. विष्णुराम नागरजी की मिताब का मूल्य अधिक है, क्योंकि 'उपमा कालिदासस्य' इस उक्तिसे ख्यातकीर्त कालिदास के वाङ्मय में और भी अलंकार उतनी ही संख्या में उपस्थित हैं यह दिखाने का प्रयास उन्हों ने बड़ी सफलता से किया है।

प्रस्तावना में 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति से लेकर काव्यलक्षण, अलंकार, उन का काव्य में स्थान इन सब विषयों पर विवेचन किया है। सादृश्येतर अलंकारों का अध्ययन रुय्यक के 'काव्यालंकारसर्वस्व' पर आधारित है। विरोधमूलक, शृंखलाबंधमूलक, तर्कन्यासमूलक, वाक्यन्यासमूलक, लोकन्यासमूलक, गूढार्थप्रतीतिमूलक, रसवदादि अलंकार इस तरह के उपशीर्षकों के आधार पर कुछ मिलाकर चवालीस अलंकारों का विधान किया गया है, जो कि महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इस तरह की रचना करते समय कुछएक स्थान पर लेखक ने परंपराप्राप्त अलंकार अस्वीकार किये हैं, पर उसकी वजह भी दी है। जैसे कि शाकुन्तल ५.१५ का उदाहरण है (पृ. ८२ अंतिम श्लोक), जहाँ आलंकारिकों के मतानुसार अर्थापत्ति है, पर लेखक स्पष्टीकरणपूर्वक उसका निषेध करके 'दृष्टान्त' की सिद्धि करता है। कभी ऐसा भी हुआ है कि बिना किसी वजह दिये, एक ही उदाहरण दो अलंकारों में समाविष्ट किया है, जैसा कुमार. १.४७। यह श्लोक क्रमशः अन्योन्य अलंकार (पृ. ५३) और संसृष्टि' (पृ. १०७) दोनों में समाविष्ट है। उस के विपरीत रघु. १.२४ यह श्लेक 'काव्यलिंग' में न लेने का (पृ.६३) और 'परिसंख्या' में (पृ.६९) अंतर्भूत करने का भी कारण दिया है, जो कि एक अभ्यासक के लिए उपयुक्त है। 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार के बारे में लेखक का अपना विशेष चिन्तन महसूस होता है। क्योंकि, उस के अन्तर्गत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शरीर, इन्द्रिय, मन, कर्म, मरण, विरह, सामान्य नीति, महापुरुषों का व्यक्तित्व, स्त्रियाएँ, कन्याएँ इन सब विषयों का विवेचन किया है (पृ.१३८) जो अन्य किसी अलंकार के संदर्भ में उपलब्ध नहीं है।

'अलंकारमूलक भावसाम्य' नामक प्रकरण में कालिदास की अन्य कवियों के साथ तुलना की है। उसमें भास के प्रतिमा नाटक से 'सूर्य इव गतो रामः' (प्रतिमा २.७) श्लोक उदधृत कर के उस पर टिप्पणी दी है। 'इस साङ्गोपाङ्ग उपमा का प्रतिरूप कालिदास की कृतियों में नहीं मिलता' (पृ. १७० परि ७)। यह विधान अनवधानता से किया हुआ लगता है। यतः रघु. २.२०

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनुः दिनक्षपामध्यगतेव संध्या॥

इस श्लोक में साङ्गोपमा स्पष्टतया दृग्गोचर है।

'कालिदास का आलंकारिक वैशिष्ट्य' नाम के प्रकरण में लेखक ने कालिदास के दोष भी दिखायें हैं जो वस्तुनिष्ठ संशोधक के लिए उपयुक्त हैं। निरर्थक, अलील, संदिग्ध, अप्रतीत ऐसे कई दोषों के साथ पुनरूक्ति का दोष भी बताया है। फिर उस में चरणों की पुनरुक्ति, श्लोकों की पुनरुक्ति आदि सब कहा है। पुनरुक्ति दोष है, इस में कुछ शक नहीं। तथापि लेखक ने खुद भी करीब-करीब चालीस बार 'विच्छिति' जैसे एक शब्द की ही पुनरुक्ति की है जो कि आगे चलकर लेखक की निजी शैली जैसी लगती है। इसी प्रकरण में 'शास्त्र अनैचित्य' की बात कही गयी है। कालिदास ने रघुवंश की रचना की, उस में रघु के पूर्ववर्ती और लव-कुश के उत्तरवर्ती जो राजाओं के व्यक्तिचित्र मिलते हैं, उनका इतिहास आज उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह कालिदास का वैशिष्ट्य माना जाता है। उसी कों शास्त्र-अनौचित्य समझना सरासर अनुचित लगता है।

इन सब मतभेदों के बावजूद भी डॉ. नागरजी की यह किताब निश्चित ही वाचनीय तथा सग्रहणीय है, क्योंकि उपमा के अतिरिक्त अलंकारों में भी कालिदास का कितनां योगदान है, इस का इन्होंने बड़े परिश्रमपूर्वक विवेचन कियां है। हम समझते हैं कि इस पुस्तक के पाठकों को काफी लाभ होता। अतः इस पुस्तक का हम स्वागत करते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

-२-

'तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड' लेखिका डॉ. बीना अग्रवाल, प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी १९९६, पृ. २०० मूल्य रू. ३००/-

डॉ. बीना अग्रवालजी की लिखी 'तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड' किताब अभ्यासकों के लिए बहुत ही उपयुक्त है। आगम और निगम एक-दूसरे के सम्मुख होते हुए भी लोगों की दृष्टि से परस्पर-विरोधी माने जाते हैं। उस का एक अहम कारण है कि आगमों में पाया जानेवाला कर्मकाण्ड निगमों से असदृश माना गया है। परंतु तन्त्रालोक, जो कि आगमग्रंथों में से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, उस में स्थापित कर्मकाण्ड का विवेचन करते समय लेखिका ने कई बार उस का निगमों के साथ सप्रमाण साधर्म्य दिखाया है। इस से तन्त्रालोक की महत्ता पर कुछ असर नहीं होता, परंतु कर्मकाण्ड की वजह से तन्त्र की ओर लोगों की जो दूषित दृष्टि है, वह साफ होने में निश्चितरूप से मदद हो सकती है।

सहसा तन्त्र दो हिस्सों में विभक्त किया जाता है एक दर्शन और दूसरा कर्मकाण्ड। दर्शन के बारें में सामग्री मिल सकती है, लेकिन, कर्मकाण्ड के लिए प्रामाणिक सामग्री मिलना मुष्किल होता है। उस की वजह मुख्यतया पंच मकारों से संबंधित है। पर पंचमकार तो एक हिस्सा है पूरे कर्मकाण्ड का। अतः अग्रवालजी ने दीक्षा, कर्म, याग, मंत्र, मण्डल, मुद्रा इस क्रम से पुस्तक में रचना की है।

प्रस्तावना में ही तन्त्रालोक का आधारभूत ग्रंथ (पृ. २ परि. ३) तथा 'तन्त्रालोक' शब्द की व्याख्या (३.१) दी गई है। तन्त्रालोक में कुछ चौतीस आह्निक हैं, उन में से चौदह से लेकर चौतीस आह्निक तक याने कि कुछ चौदह आह्निकों में प्रमुखतया कर्मकाण्ड का निरूपण है (३.१)। इसलिए ग्रंथ का शीर्षक 'तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड' ऐसा रखा गया होगा, जो स्पष्टरूप से अंतरंग से जुडा हुआ है। कर्मकाण्ड का विवेचन शैवदर्शन के कुछ शाखा के अनुसार है, जो अभिनवगुप्त को अभिमत है।

लेखिका ने यथा संभव आगमों और निगमों में तुलना की है जैसे कि २९.६, ३१.३, ४८.३-४, ६४.४, ८१.३, १२६.१, १७५.५, १७६.१ आदि। आगमों और निगमों में इस तरह की तुलना करने की यह संभवनीयता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी नजर अंदाज नहीं कर सकतें, क्योंकि आगमों की तरह निगमों की भी प्रतिष्ठा मिल जाय।

ऐसी ही तुलना करते समय अग्रवालजी ने तन्त्रालोक से एक श्लोक उद्धृत किया है (तंत्रा. १३.३३४), जिस में शिष्य पहले गुरु को छोड़कर दूसरे और प्रगल्भ गुरु की ओर चला जाता है, ऐसा स्पष्टरूप से बनाया है (पृ. १९)। उसकी तुलना के लिए तैत्तिरीय उपनिषद् (१.३) का संदर्भ दिया है। तैत्तिरीय में उपमा के सहारे बताया है कि जैसे पानी नीचे की ओर बहता है, उसी प्रकार शिष्यगण मेरे पास आ जाए। यहाँ अन्य गुरु का संदर्भ नहीं है और ना ही उस की प्रगल्भता की बात। लेकिन यह एकमात्र उदाहरण है जहाँ की गई तुलना अनुचितसी लगती है।

याग के बारें में पंचमकारों में से जहाँ मद्य और मिथुन के संदर्भ हैं, लेखिका ने निगमों से सोम और यज्ञ में विश्वनिर्मिति के संदर्भ में अथि हुए मिथुन विषयक उल्लेखों को योग्य तरह से पेश किया है।

तन्त्रालोक की 'विवेक' टीका ने याग के उपादानों को व्याकरण के कारकों के जोड़ दिया है, सिर्फ षष्ठी विभक्ति छोडकर शायद षष्ठी के लिए 'शेषे षष्ठी' सूत्र है, जो कि षष्ठी विभक्ति को आवश्यकता नुसार किसी दूसरे विभक्ति के आशय में जोड़ देता है, जैसे कि शंकराचार्य के मतानुसार 'ब्रह्मजिज्ञासा' में कर्मवि षष्ठीत अतः विवेककार जयरथ ने षष्ठी का स्वतंत्र समावेश न किया है। इस में एक ओर आगमों का निगमों के साथ संबंध और दूसरी ओर हर एक संज्ञा की व्यत्पति था व्याकरणनिष्ठता से अग्रवालजी को अध्ययन सूक्ष्मता दृग्गोचर होती है।

कर्मकाण्ड तो मूलतः क्लिष्ट होता है, उस का विवेचन तो और भी क्लेशकर लगता है, फिर भी 'तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड' यह किताब दूसरे आक्षेप को प्रयासपूर्वक निरस्त करती है। पहला आक्षेप तो असल में आक्षेप नहीं, बल्कि स्वभाव ही है। अतः 'अग्रवालजी का यह प्रयास निश्चित' 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नत्वतां विधत्ते' जैसा है। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक तंत्र के अभ्यासकों को बडी उपयुक्त साबित होगी। अतः हम इस का हार्दिक स्वागत करते हैं।

सर परशुरामभाऊ महाविद्यालय, डॉ. कांचन मांडे
पुणे ४११०३०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्रायः ३००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक -संपादकों के निर्णयपर निर्धारित होगी। अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी। पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं।यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक योग एन्टरप्राईझेस, ४२८, मंगलवार पेठ, पुणे-४११०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection: Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)

साहित्य में आधुनिकता की संकल्पना और भारतीय संदर्भ	: डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर	२९७
वेदान्त के प्रमुख संप्रदायों में आत्मा का स्वरूप	: डॉ. कु. कविता शुक्ला	३१३
मीमांसा का नैतिक तथा सामाजिक अवदान	: डॉ. सोमनाथ नेने	३२९
तंत्र का स्वरुप एवं प्रयोजन काश्मीर शैवदर्शन के परिप्रेक्ष में	: जयशंकर सिंह	३३९
जैनदर्शन में सामायिक और ध्यान की अवधारणा	: डॉ. आदित्य प्रचण्डिया	४४७
आयारो के परिप्रेक्ष्य में निःशस्त्रीकरण और विश्वशांति	: डॉ. बच्छराज दूगड	३५५
मूल्य - संरक्षण में कानून का नैतिक पक्ष	: डॉ. एस. आर. व्यास	३६३
अहिंसा : शांति के संदर्भ में एक मूल्यांकन	: वी. कामेश्वर राव	३७१
ग्रंथ समीक्षा	: डॉ. कांचन मांडे	३८५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.